वर्ष : 10 • अंक : 40 • अप्रैल-जून 2024 • ISSN 2347-6605

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

(अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक शोध पत्रिका)

(International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research)

(A Scholarly Peer Reviewed Journal)

विशेष सूचना :

विचार की प्रतिबद्धता में राष्ट्रहित सर्वोपरि है।

रूपेश कुमार चौहान
स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक
द्वारा 47, ब्लॉक ए-3, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, दिल्ली-43 से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।
दूरभाष संख्या-09555222747, 9267944100, 9555666907
Email: vaaksudha@gmail.com • Website : www.vsirj.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें।
* शोध-लेख **हिन्दी अथवा संस्कृत भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 3500 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* लेख में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'वाक् सुधा'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोध लेखक के अपने विचार हैं तथा इसमें सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल के विचारों की उद्‌भावना स्पष्टत: नहीं है। अत: इसके लिए शोध-लेखक स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* **आगामी अङ्क में प्रकाशनार्थ लेख आमंत्रित हैं। यदि आप लेख टाइप करा कर भेजने में असमर्थ हैं तो हस्तलिखित प्रति पत्रिका में दिये गये पत्र-व्यवहार के पते पर भेज दें।**
* प्रत्येक अङ्क पत्रिका की वेबसाइट पर अध्ययन हेतु उपलब्ध रहता है।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण नि:शुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**
* **शोध-पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**

© सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान

ISSN : 2347-6605

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'वाक् सुधा'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

सलाहकार परिषद् :

- **डॉ. एम.एस. चौहान**
(निदेशक, राष्ट्रीय डेयरी शोध संस्थान, करनाल, हरियाणा)
- **प्रो. अरविन्द कुमार पाण्डेय**
(पूर्व कुलपति, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
(पूर्व कला संकाय अध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **महामहोपाध्याय प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री**
(पूर्व उप-कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)
- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
(अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **प्रो. रामनाथ झा**
(संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. राजवीर शर्मा**
(पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. शम्स-उल-इस्लाम**
(प्रधानाचार्य, गया कॉलेज, गया, बिहार)
- **प्रो. राम सरेख सिंह**
(पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)
- **प्रो. पवन अग्रवाल**
(हिन्दी एवं आधुनिक भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय)
- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
(अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)
- **प्रो. आभा त्रिवेदी**
(पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय)
- **प्रो. कमला उपाध्याय**
(विभागाध्यक्षा, संस्कृत, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)
- **प्रो. रसाल सिंह**
(प्रोफेसर, जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय, जम्मू)
- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
(राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)
- **डॉ. विक्रमादित्य राय**
(अध्यक्ष, समाज-शास्त्र विभाग, डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज, (बी.एच.यू.) वाराणसी
- **प्रो. राजेश रंजन**
(पालि विभाग, नालन्दा नव-महाविहार)
- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
(इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. काशीनाथ जेना**
(राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. मनीष सिन्हा**
(अध्यक्ष, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)
- **डॉ. एम. रहमतुल्लाह**
(कंसल्टिंग एडिटर, दूरदर्शन न्यूज, भारत सरकार)

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Mob : 9555222747, 9540468787,
9267944100

Executive Editior
Dr. Pramod Kumar Singh
M.A., Ph.D. (Sanskrit), M.A. (Philosophy)
Gold Medalist
Assistant Professor,
Department of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi
Mob : 9717189242

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
Asst. Prof., Department of Sanskrit
PGDAV College, University of Delhi
Mob. 9555666907, 9891526584

Co- Editor
Abhishek Priyadarshi
M.A., Ph.D. (History),
Asst. Prof., History Department
Satyawati College, University of Delhi
Mob. 9971656921

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
I-11, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi****-110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (Bihar) :
Prof. D.S. Chauhan
C/o Late Bindeshwari Singh, Jaiprakash Nagar, Gewal Bigha,
Gaya*-823001*
Mob. : 9263078395

Branch Office (International) :
• **Mrs Kirthee Devi Ramjatton**
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

Correspondence Address :
B-11/39, MIG Flats, Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747
www.vsirj.com

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. वी.के. यादव**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. कृष्ण लाल**
(सेवानिवृत्त प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, अरविन्दो कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. दिलीप कुमार झा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार**
(असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अनुग्रह नारायण स्मारक महाविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय)
- **डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज, एण्ड रिसर्च, एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, नोएडा)
- **डॉ. राजमोहिनी सागर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. वी.के. तोमर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **डॉ. के.के. झा**
(सीनियर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. सुभाष कुमार सिंह**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. चन्द्रशेखर राम**
(प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-कार्य, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)
- **डॉ. कुमारी शुभ्रा**
(प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार, दिल्ली)
- **डॉ. लालजी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संरक्षक :

प्रो. मदन मोहन अग्रवाल
पूर्व अध्यक्ष एवं संकाय अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. दलवीर सिंह चौहान
पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार

प्रो. राजवीर शर्मा
पूर्व उपाचार्य, राजनीति शास्त्र विभाग,
आत्माराम सनातन धर्म महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय .... *viii*

भारतीय दर्शन में मोक्ष की अवधारणा 1
डॉ. मंजुला गुप्ता

'सूरसागर' में रस-विवेचन 5
सचिन कुमार वर्मा / डॉ. वन्दना

मध्यकालीन मिथिलाक आर्थिक जीवन................. 9
डॉ. नारायण कुमार झा

जयशंकर प्रसाद के नाटकों का मूल्यगत अंकन : आधुनिक परिप्रेक्ष्य में 13
ज्ञान प्रकाश मिश्रा

रससिद्धान्तविषये सत्कार्यवादस्य सिद्धासिद्धविवेकः 17
प्रो. ब्रजेश कुमार पाण्डेयः / अभिषेक कुमार पाण्डेयः

भूमंडलीकरण के दौर में स्त्री की छवि............. 20
अमन कुमार

रामचरितमानस के राम का संवाद कौशल 24
डॉ. श्रुति रंजना मिश्रा

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में गाँधी के राष्ट्रवाद की प्रासंगिकता 29
दुर्गेश नंदिनी / डॉ. सुधा निकेतन रंजनी

'महाभोज' उपन्यास : वर्तमान समाज का जीवंत दस्तावेज... 34
सुलदीप कुमार / मोनोजित रॉय

मीरा के काव्य का पुनरावलोकन....................... 40
सचिन कुमार मीणा

रघुवंश महाकाव्य का दार्शनिक विवेचन........... 45
इन्दू चारण

गंगा घाटी में नए धार्मिक संप्रदायों के उद्भव और विकास पर व्यापार और वाणिज्य का प्रभाव : एक ऐतिहासिक विश्लेषण.................. 48
पवन कुमार

भुवनेश्वर की कहानियों में चित्रित सामाजिक विसंगति.. 53
स्मृति यादव

मीणा लोकगीतों का ऐतिहासिक महत्व............. 58
दीपचन्द मीणा

बीसवीं शताब्दी के समाज-सुधार आंदोलनों में भिखारी ठाकुर के साहित्य की भूमिका 62
राकेश रंजन

वृंदावन लाल वर्मा के उपन्यासों में स्त्री पात्रों की राजनीतिक चेतना (ऐतिहासिक उपन्यासों के संदर्भ में) 68
डॉ. पूनम मीणा

संस्कृत नाटकों में अभिनेता तथा अभिनय की भूमिका 72
ममता

स्वच्छंदतावाद की अवधारणा और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियां... 76
रोहित मिश्रा

बदलते भूमि उपयोग प्रारूप का शोधपरक अध्ययन (जयपुर स्मार्ट सिटी के संदर्भ में) 80
पंकज कुमार डीगवाल / डॉ. पी.एल. कटारा

रामदरश मिश्र के उपन्यासों में आँचलिकता 87
डॉ. अनिरुद्ध कुमार

भीष्म साहनी की कहानियों में वृद्ध जीवन की समस्याएँ 91
कु. मोनिका

'बिना दरवाजे का मकान में' प्रवासी मजदूरों के समस्याओं की पड़ताल................................ 94
प्रणय प्रकाश

भारतीय राजनीति में छात्रों द्वारा चलाए गए बिहार आंदोलन में लोकनायक जयप्रकाश नारायण की भूमिका 98
प्रियंका

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित विविध योग और उनके साम्प्रतिक सन्दर्भ........................... 103
डा. कल्पना आर्या

बनारसी प्रसाद भोजपुरी के कथा-साहित्य में समाज 107
प्रीति कुमारी

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

मृच्छकटिकम् में न्याय-व्यवस्था एक विश्लेषण .. 114
श्याम लता मीना
डॉ. रामकुमार सिंह के निबन्धों का स्वरूप एवं समीक्षा शैली 119
डॉ. रंजना त्रिपाठी
लिपि और देवनागरी लिपि : विकास और स्वरूप 124
डॉ. धनंजय कुमार

सम्पादकीय

21 जून 2024 को 10वां 'अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस' मनाया गया। इस बार का थीम था–''स्वयं और समाज के लिए योग।'' योग के चमत्कारों को समूचा विश्व जानता है। कोरोना काल में योग ने वैश्विक स्तर पर मानवता की जो रक्षा की वह अपने आपमें एक अनूठे वरदान से कम नहीं है। हम सभी जानते हैं कि 2015 में पहला अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस 21 जून को मनाया गया। उसी समय से योग के प्रोटोकॉल को लेकर विवाद है। सूर्य नमस्कार और ओम तथा मंत्रों के जाप को लेकर अपने देश में विपक्षी पार्टियों और सेकुलर गिरोह में घोर आपत्ति थी जो अब भी है। इसलिए वह खास तबका अभी भी योग से दूरी बनाकर ही रहता है।

बहरहाल, 21 जून को उत्तरी गोलार्द्ध में सबसे लंबा दिन होता है और विश्व के कई देशों में इस दिवस का विशेष महत्व है। खगोलविद और वैज्ञानिक इस दिन का उपयोग उत्तरी गोलार्द्ध में गर्मी की शुरुआत और दक्षिण गोलार्द्ध में सर्दियों को चिन्हित करने के लिए करते हैं। कोई गंभीर ज्ञान की बात न करते हुए केवल 'योग' सबको अपनी सहूलियतों के हिसाब से करना चाहिए, यही निवेदन के साथ कुछ जानने योग्य बातों का उल्लेख कर रहा हूँ। योग वह व्यवस्थित सचेतन प्रक्रिया है जो मनुष्य के विकास की प्रक्रिया को काफी हद तक व्यवस्थित कर सकती है। इस समय जिस 'होलेस्टिक डेवलपमेंट' की चर्चा सर्वाधिक होता रही है उसके लिए योग अत्यन्त आवश्यक है। महर्षि श्रीअरविन्द शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक स्तरों पर सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास पर जोर देते हैं। योग से श्रीअरविन्द का तात्पर्य एक व्यवस्थित प्रयास से है, जो व्यक्ति में छिपी क्षमताओं के विकास द्वारा आत्म-पूर्णता प्रदान करता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा तमाम सीमाओं और खामियों को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार, योग किसी व्यक्ति के संपूर्ण विकास को गति देने की एक व्यवस्थित प्रक्रिया है। महर्षि पतंजलि ने योग की अष्टांगिक प्रणाली सिखाई, जिसमें नैतिकता एवं अनुशासन (यम और नियम), आसन (आसन), श्वास एवं व्यायाम (प्राणायाम), इंद्रियों पर नियंत्रण (प्रत्याहार), एकाग्रता (धारणा), ध्यान (ध्यान) और अवशोषण (समाधि) है। यह आध्यात्मिक प्रशिक्षण की एक पूर्ण और अभिन्न प्रणाली का गठन करता है। वेद विश्व साहित्य का सबसे प्राचीनतम ग्रंथ है। संस्कृत में वेद शब्द का अर्थ है ''ज्ञान'' और ऋक का अर्थ है ''प्रशंसा''। इस प्रकार ऋग्वेद ऋचाओं का एक संग्रह है जो एक उच्च एवं प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति करता है। अन्य तीन वेद यजुर्वेद (यज्ञ का ज्ञान), सामवेद (मंत्रों का ज्ञान), और अथर्ववेद (ऋषि अथर्व द्वारा दिया गया सांसारिक मामलों का ज्ञान) है।

वैदिक काल में यह माना जाता था कि सर्वोच्च स्थान की प्राप्ति का साधन 'ध्यान' है। जिसके माध्यम से ब्रह्मांड से ऋषियों को ज्ञान प्राप्त होता था। वेदों में कई जगह अलग-अलग मंत्रों में योग को तपस्या और आध्यात्मिक उन्नति का माध्यम माना गया है। उपनिषदों में योग का विस्तार और व्यापक अध्ययन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को योग का उपदेश देते हैं, और विभिन्न प्रकार के योग के मार्गों का स्पष्ट विवरण प्रस्तुत करते हैं। वहां से लेकर सोशल मीडिया के आज के युग तक योग का प्रसार और प्रचलन व्यापक स्तर पर रहा है। स्वामी विवेकानंद जैसे महान योगियों ने योग को पश्चिमी दुनिया में प्रस्तुत किया और उसके लाभों को बताया। स्वामी रामदेव का योगदान भी प्रशंसनीय है। आधुनिक जीवन में तनाव से छुटकारा पाने का एक महत्वपूर्ण तरीका भी योग बन गया है। आजकल योग आध्यात्मिक और शारीरिक लाभ देने वाला महत्वपूर्ण माध्यम बन गया है, जिसके अन्तर्गत हठयोग, आसन, प्राणायाम, ध्यान और योग थेरेपी आदि विभिन्न प्रकार के प्रयोग हो रहे हैं। इन तमाम प्रयोगों के बावजूद जब समस्या होती है तभी हम सभी योग को अपनाते हैं। अगर योगमय जीवनचर्या अपना लें तो जीवन में समस्या ही नहीं होगी।

– डॉ. राजेश कुमार
उपसंपादक

डॉ. मंजुला गुप्ता

भारतीय दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

सारांश :

मोक्ष भारतीय धार्मिक और दार्शनिक परंपरा में एक महत्वपूर्ण अवधारणा है, जो जीव को संसार के चक्र से मुक्ति और आत्मा को अटल स्वतंत्रता की स्थिति में ले जाती है। यह आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, या परमात्मा के साथ एकता की स्थिति के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। भारतीय दर्शनों में मोक्ष की अवधारणा के कई सिद्धांत हैं। वेदांत दर्शन में आत्मा और परमात्मा के एकत्व के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति होती है, जबकि योग और सांख्य दर्शन में मोक्ष को 'कैवल्य' के रूप में व्याख्यायित किया गया है, जो अनंत स्वतंत्रता का अनुभव कराता है। मोक्ष को प्राप्त करने के विभिन्न मार्ग हैं। ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग, और भक्ति मार्ग इनमें से कुछ मुख्य मार्ग हैं। इन मार्गों के माध्यम से व्यक्ति आत्मा को अनुभव कर, आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ सकता है। मोक्ष की अवधारणा भारतीय समाज में आध्यात्मिक और संवैधानिक जीवन के लिए महत्वपूर्ण है। यह जीवन का उद्देश्य है और मानव जीवन की सबसे उच्च धार्मिक प्राप्ति मानी जाती है।

प्रस्तावना :

मोक्ष, भारतीय दर्शन की महत्वपूर्ण और गंभीर अवधारणा है जो मनुष्य के जीवन के उद्देश्य और आध्यात्मिक उन्नति के प्रति उसकी आत्मविश्वास की मान्यता करती है। इस अवधारणा के अनुसार, मोक्ष न केवल एक सिद्ध दार्शनिक सिद्धांत है, बल्कि यह जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है, जो संसार के चक्र में फंसे हुए जीव को उसकी आध्यात्मिक स्वतंत्रता और मुक्ति की प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ने का मार्ग प्रदान करता है। मोक्ष की अवधारणा का व्यापक और गहन अध्ययन करने के लिए हमें भारतीय दर्शनों की धार्मिक एवं दार्शनिक परंपराओं को गहनतापूर्वक समझने की आवश्यकता है। इस अध्ययन में, हम वेदांत, योग, सांख्य, जैन, और बौद्ध दर्शनों के माध्यम से मोक्ष की अवधारणा को समझेंगे और उसके महत्वपूर्ण सिद्धांतों और मार्गों को विश्लेषण करेंगे। इस प्रक्रिया में, हमें भारतीय दर्शनों के माध्यम से मानव जीवन की सच्ची अर्थात्मक और आध्यात्मिक प्रकृति को समझने का अद्वितीय और गहन अवसर प्राप्त होगा।

मोक्ष का शाब्दिक अर्थ है 'मुक्ति' या 'उत्तान'। यह आत्मा को संसार के चक्र से मुक्त करने की स्थिति है। मोक्ष की परम्परागत परिभाषा में इसे आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, या परमात्मा के साथ एकता की स्थिति के रूप में व्याख्यायित किया गया है। मोक्ष एक प्राचीन भारतीय धार्मिक और दार्शनिक अवधारणा है जिसे हम आत्मा की उन्मुक्ति या मुक्ति के रूप में समझते हैं। इसे जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना जाता है। मोक्ष की प्राप्ति के बाद जीव भव संसार के चक्र से मुक्त हो जाता है और अटल स्वतंत्रता या निर्वाण की स्थिति में पहुंचता है। इसे धार्मिक और आध्यात्मिक प्रगति का सर्वोच्च पथ माना जाता है।

मोक्ष की अवधारणा भारतीय दर्शन, धर्म और साहित्य में व्यापक रूप से व्याख्यात की गई है। वेदांत, योग, सांख्य, जैन, और बौद्ध दर्शनों में मोक्ष के विभिन्न सिद्धांत व्यक्त किए गए हैं। मोक्ष की प्राप्ति के लिए विभिन्न मार्गों की व्याख्या की गई है, जिसमें ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग, और भक्ति मार्ग शामिल हैं।

मोक्ष की अवधारणा आध्यात्मिक उद्दीपना और संतोष

की प्राप्ति को लेकर हमें जीवन में एक महत्वपूर्ण लक्ष्य के रूप में समझाती है। यह हमें समय-समय पर संसार की माया में फंसे होने से बचाती है और आत्मज्ञान की प्राप्ति के माध्यम से सच्चे आनंद और शांति का अनुभव करने की संभावना प्रदान करती है।

मोक्ष की अवधारणा विभिन्न भारतीय दर्शनों और धार्मिक परंपराओं में अलग-अलग रूपों में व्याख्यात की गई है। यहाँ हम कुछ प्रमुख दर्शनों के माध्यम से मोक्ष की अवधारणा को समझेंगे:

वेदांत दर्शन : वेदांत दर्शन में मोक्ष की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है। वेदांत के अनुसार, मोक्ष या मुक्ति को 'आत्मज्ञान' के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। इस दर्शन के अनुसार, हमारा आत्मा और परमात्मा में अनन्तता और एकता है। यदि हम इस सत्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो हम मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं।

वेदांत दर्शन के अनुसार, हमारा आत्मा ब्रह्म या परमात्मा का अविनाशी अंश है। हम जीवात्मा और परमात्मा के बीच के अज्ञान के कारण संसार में फंसे रहते हैं। लेकिन यदि हम आत्मा के साक्षात्कार को प्राप्त कर लेते हैं, तो हम संसार के चक्र से मुक्त हो जाते हैं और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

इस दर्शन में, मोक्ष को आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। आत्मसाक्षात्कार का अर्थ है कि हम अपने आत्मा को अनुभव करते हैं, जिससे हम परमात्मा के साथ एकता की स्थिति में पहुंचते हैं। इस प्रकार, आत्मज्ञान की प्राप्ति के माध्यम से ही हम मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं और संसार के चक्र से मुक्त हो सकते हैं।

वेदांत दर्शन के अनुसार, मोक्ष को प्राप्त करने के लिए आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदांत के महावाक्यों का अध्ययन, ध्यान, तपस्या, समाधि, और अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। इसके माध्यम से ही हम स्वयं को संसार के चक्र से मुक्त कर सकते हैं और मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं।

योग दर्शन : योग दर्शन में मोक्ष को 'कैवल्य' के रूप में व्याख्यात किया गया है, जो आत्मा की अटल स्वतंत्रता और निरंतर शांति का अनुभव होता है। योग द्वारा, आत्मा को उसके स्वार्थ से मुक्त करके उसकी प्राकृतिक स्थिति से बाहर लाया जाता है, जिससे वह अपनी सच्ची स्वरूप में विश्राम और आनंद की प्राप्ति करता है।

योगाभ्यास के माध्यम से मन की शांति और आत्मा की पहचान होती है। योग द्वारा, हम अपने मन को वश में करते हैं, उसकी चंचलता को नियंत्रित करते हैं, और अंततः अपने स्वयं के आत्मा को पहचानते हैं। योग प्राकृतिक रूप से मन की चंचलता और अफुरने को शांत करता है, जिससे हम अपने आत्मा को अधिक स्पष्ट रूप से अनुभव कर सकते हैं। इस प्रकार, योग द्वारा हम अपने आत्मा की पहचान करते हैं और उसकी साक्षात्कार के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति को सम्भावनाओं में बदलते हैं।

योगाभ्यास के विभिन्न अध्यायों, जैसे कि आसन, प्राणायाम, ध्यान, और समाधि के माध्यम से हम अपने मन को शुद्ध करते हैं और आत्मा की स्वरूप को अधिक समझते हैं। योग द्वारा, हम स्वयं को आत्मा के साथ एकता में प्राप्त करते हैं और अंततः मोक्ष की प्राप्ति को साधना करते हैं।

सांख्य दर्शन : सांख्य दर्शन में मोक्ष को 'कैवल्य' के रूप में व्याख्यात किया गया है। इस दर्शन के अनुसार, मोक्ष का अर्थ है आत्मा के परम प्रकृति के साथ एकत्व का अनुभव करना। सांख्य दर्शन में प्रकृति को पुरुष के साथ विभाजन किया जाता है, जहाँ पुरुष आत्मा को प्रतिपादित करता है और प्रकृति प्रवृत्तियों, गुणों और विकारों की प्रवृत्तियों को संज्ञान में लाता है। मोक्ष का मुख्य लक्ष्य प्रकृति से मुक्ति है, जिससे पुरुष अपनी अविनाशी, निष्क्रिय, और अद्वितीय स्वरूप का अनुभव कर सके।

सांख्य दर्शन में मोक्ष के लिए ज्ञान का महत्व बहुत अधिक होता है। इस दर्शन के अनुसार, संयुक्त बुद्धि, विवेक, और विचार के माध्यम से ही हम प्रकृति के बंधन से मुक्त हो सकते हैं। इस दर्शन के अनुसार, आत्मा की परम प्रकृति के साथ एकत्व का अनुभव केवल विचार और विवेक के माध्यम से होता है, जो हमें विकारों और माया के प्रकरणों से दूर ले जाता है। इस प्रकार, मोक्ष की प्राप्ति सांख्य दर्शन में आत्म-विचार और आत्म-साधना के माध्यम से होती है, जो प्रकृति के बंधन से मुक्ति की प्राप्ति को सुनिश्चित करता है।

हिंदू धर्म : हिंदू धर्म में मोक्ष को चार पुरुषार्थों में से एक माना गया है। यह धर्मार्थ, काम, और मोक्ष के पुरुषार्थों का एक हिस्सा है। वेदों में मोक्ष की महत्वपूर्ण उल्लेख और अनेक उपनिषदों में इसके विस्तृत विवेचन किया गया है। मोक्ष का अर्थ है संसार से मुक्ति, जो संसारिक बंधनों

और दु:खों से आत्मा को मुक्त करने की प्राप्ति है। इसे प्राप्त करने के लिए, हिंदू धर्म में विभिन्न मार्गों का विवेचन किया गया है, जैसे कि भक्ति योग, कर्म योग, ज्ञान योग, और राज योग। इन मार्गों के माध्यम से व्यक्ति आत्मा को पहचानता है, ईश्वर में एकता की अनुभूति करता है, और अंततः मोक्ष की प्राप्ति करता है। मोक्ष की अवधारणा वेदांत दर्शन में विशेष रूप से महत्वपूर्ण मानी जाती है, जिसमें आत्मा और परमात्मा के एकत्व का उल्लेख होता है और मोक्ष को आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार, मोक्ष हिंदू धर्म का एक प्रमुख सैद्धांतिक सिद्धांत है जो आत्मा के मुक्ति और आत्मनिर्वाण की प्राप्ति को लक्ष्य बनाता है।

जैन धर्म : जैन धर्म में मोक्ष को 'मोक्ष' या 'निर्वाण' के रूप में जाना जाता है। यह धर्म मोक्ष को आत्मा के परम प्रकृति के साथ एकत्व और संसार के चक्र से निकलने की प्राप्ति का रास्ता मानता है। जैन धर्म में मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिरत्न – सम्यक दर्शन (सही ज्ञान), सम्यक ज्ञान (सही ध्यान), और सम्यक चारित्र (सही चरित्र) के माध्यम से होती है। यह तीनों गुण मिलकर जीव को संसार के चक्र से मुक्ति प्राप्त करने में मदद करते हैं।

संसार के चक्र से मोक्ष प्राप्ति के लिए जैन धर्म में अहिंसा (असत्य, अचोराया, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अपचाया) और अनेकांतवाद (सभी पक्षों का सम्मान करना) के माध्यम से अच्छी आदतें बनाने को बहुत महत्व दिया जाता है। जीव को अपने कर्मों के द्वारा बंधनों से मुक्त करने के लिए साधना किया जाता है, जो उसे मोक्ष की प्राप्ति के लिए तैयार करता है।

जैन धर्म में मोक्ष का अर्थ आत्मा को संसार के चक्र से मुक्ति प्राप्ति है, जिससे वह अनंत शांति और सुख की स्थिति में पहुंचता है। इसमें आत्मा को स्वतंत्र, अविनाशी और अद्वितीय स्वरूप का अनुभव होता है, जो संसार के सभी दु:खों से मुक्ति को संकेत करता है। जैन धर्म में मोक्ष को सर्वोच्च आदर्श माना जाता है, जो हर जीव को अपनी अंतिम गति के रूप में प्राप्त होनी चाहिए।

बौद्ध धर्म : बौद्ध धर्म में मोक्ष को 'निर्वाण' के रूप में व्याख्यात किया गया है। निर्वाण एक स्थिति है जिसमें आत्मा संसार के चक्र से मुक्त हो जाती है और अनंत शांति, सुख, और मुक्ति का अनुभव करती है। बौद्ध धर्म के अनुसार, संसार में दुख की स्थिति में फंसे हुए जीवों को निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। निर्वाण का अर्थ है जीवात्मा की मुक्ति और उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति। इसमें आत्मा को संसार के बंधनों से मुक्त कर उसे अज्ञेय, अमित्य, और अविच्छेद्य स्वरूप में पहचाना जाता है।

बौद्ध धर्म के अनुयायियों के लिए निर्वाण प्राप्ति का मार्ग अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह की पालना में होता है, जिससे वे आत्मा को संसार से मुक्त कर सकते हैं और निर्वाण की प्राप्ति कर सकते हैं। ध्यान और मेधावी विचार के माध्यम से जीवी निर्वाण की अवस्था में प्रवृत्त हो सकता है और संसार के चक्र से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार, बौद्ध धर्म में मोक्ष की प्राप्ति को निर्वाण के माध्यम से संदर्भित किया जाता है।

मोक्ष का आधुनिक परिप्रेक्ष्य : आधुनिक भारतीय समाज में मोक्ष का महत्व अदिनायक है। यहाँ आध्यात्मिकता के संदर्भ में मोक्ष की अवधारणा भी व्यापक रूप से विचार की जाती है। आध्यात्मिक गुरुओं ने अपने ग्रंथों और शिक्षाओं के माध्यम से मोक्ष की अवधारणा को आधुनिक संदर्भ में भी समझाया है।

आध्यात्मिकता के संदर्भ में, आधुनिक भारतीय समाज में मोक्ष की अवधारणा को विभिन्न आध्यात्मिक आंदोलनों, धार्मिक संस्थाओं, और विचारकों द्वारा प्रचारित किया जाता है। यह आंदोलन और संस्थाएं आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, और आत्मविकास को प्रोत्साहित करती हैं, जिससे व्यक्ति अपने आत्मा को पहचानता है और मोक्ष की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होता है।

विज्ञान और आध्यात्मिकता के संदर्भ में, आधुनिक भारतीय समाज में मोक्ष की अवधारणा को वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया जा सकता है। इस संदर्भ में, धार्मिकता और वैज्ञानिकता के बीच मोक्ष की अवधारणा की तुलना और संबंध का भी अध्ययन किया जा सकता है, जिससे आत्मा की प्राकृतिकता और अद्वितीयता की समझ में वैज्ञानिकता की भूमिका को समझा जा सके।

इस प्रकार, मोक्ष की अवधारणा आधुनिक भारतीय समाज में एक महत्वपूर्ण और गहन विषय रहता है, जिसे विभिन्न आध्यात्मिक, धार्मिक, और वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्यों से समझा जा सकता है।

निष्कर्ष : मोक्ष भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है, जो संसार के चक्र से आत्मा को मुक्त करने की दिशा में आगे बढ़ाता है। इस अद्वितीय सिद्धांत के

तहत, मोक्ष को प्राप्त करने के लिए विभिन्न धार्मिक, दार्शनिक, और आध्यात्मिक मार्ग हैं, जिनमें वेदांत, योग, सांख्य, जैन, बौद्ध, और अन्य दर्शनों के सिद्धांत शामिल हैं। इन मार्गों का अध्ययन करने से व्यक्ति आत्मा को अनुभव कर, आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ सकता है। मोक्ष की अवधारणा भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण और गहन विषय है, जिसमें संसार के चक्र से मुक्ति और आत्मा की स्वतंत्रता की प्राप्ति के मार्गों का अध्ययन किया जाता है। इसलिए, मोक्ष की अवधारणा भारतीय दर्शन के विचारशीलता और आध्यात्मिकता के नेतृत्व में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

एसोसिएट प्रोफेसर
जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ :

- राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, 'भारतीय दर्शन', ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1996.
- गंगोपाध्याय, रणजित, 'वेदांत दर्शन', नवनीत प्रकाशन, 2008.
- भारद्वाज, कृष्णकुमार, 'भारतीय दर्शन', रामानी ग्लोबल शिक्षण, 2012.
- शास्त्री, अच्युतानंद, 'भारतीय दर्शन', मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, 1998.
- जैन, सुधाकर, 'भारतीय दर्शन', संस्कृति प्रकाशन, 2005.
- तिवारी, रामप्रसाद, 'भारतीय दर्शन', रवि प्रकाशन, 2010.

सचिन कुमार वर्मा*   डॉ. वन्दना**

‘सूरसागर’ में रस-विवेचन

रस काव्य की आत्मा है। काव्यशास्त्रीय आचार्य भरतमुनि को रस सम्प्रदाय का प्रवर्तक कहा गया है। जिस प्रकार आत्मा से रहित शरीर का कोई महत्व नहीं होता है, उसी प्रकार साहित्य अथवा काव्य में यदि पाठक को रसानुभूति नहीं होती है तो उस काव्य का भी कोई महत्व नहीं होता है। रस को ब्रह्मनन्द सहोदर कहा गया है।

हिन्दी साहित्य के भक्ति कालीन महाकवि सूरदास को वात्सल्य रस का सम्राट कहा जाता है, इनके ग्रन्थ सूरसागर का विस्तृत अध्ययन करने पर विभिन्न रसों की अनुभूति होती है। सूरसागर के निम्न पद इस तथ्य को प्रमाणिकता प्रदान करते हैं –

शृंगार रस :

शृंगार रस का भाव रति है। साहित्य में इसे ‘रसराज’ की संज्ञा से अभिहित किया गया है। भोज का इस संदर्भ में कथन है कि ‘‘शृंगारी चैत्कवि : काव्येजातं रसमयं जगत।’’[1] अर्थात् कवि के शृंगारमय होने पर सम्पूर्ण जगत रसमय हो जायेगा। आचार्यों ने शृंगार के दो प्रमुख भेद बतलाते हैं –

1. संयोग शृंगार – संयोग शब्द मिलन का पर्याय है। संयोग शृंगार में नायक-नायिका के मिलन, आलिंगन, दर्शन एवं परस्पर प्रेम संवाद का वर्णन कवि द्वारा किया जाता है। सूरसागर में संयोग-प्रसंग के चित्र भी अत्यन्त मनभावन हैं। कृष्ण गोपियों के प्रणय में सूरदास जी ने अपनी अतुल्यनीय शृंगारी कवि-कल्पना प्रस्तुत की है –

दोउ जब भीजत अटके बातनि।
स्यामा स्याम कुंज के द्वारैं, अंबर, लपटे गातनि।
ललना लाल रूप-रस भींजे, बूँद बरावत पातनि।
बरनत ‘सूर’ परसपर प्रीतम, मिले प्रेम रस धातनि।।[2]

2. वियोग शृंगार – नायक नायिका में सम्बन्धाभाव को काव्य में वियोग श्रंष्टगार के नाम से जाना जाता है। नायक-नायिका के प्रेम की सच्ची परीक्षा विरह द्वारा ही ज्ञात होती है। साहित्य में विरह की अभिव्यक्ति प्रकृति के विभिन्न प्रतीकों द्वारा की जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने ठीक ही कहा है कि ‘‘वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं, जितने ढंग से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यत: हो सकता है व सब इसके भीतर मौजूद हैं।’’ सूरसागर में वर्णित भ्रमरगीत के वियोग की सभी अवस्थाओं के सुन्दर उदाहरण देखने को मिलते हैं। कृष्ण वियोग में व्याकुल गोपियों के विभिन्न भाव इसमें स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। विरह की ग्यारह अवस्थाएँ बतलाई जाती हैं –

1. अभिलाषा, 2. चिन्ता, 3. स्मरण, 4. गुण-कथन, 5. उद्वेग, 6. प्रलाप, 7. उन्माद, 8. व्याधि, 9. जड़ता, 10. मूर्च्छा, 11. मरण

कृष्ण-वियोग के संदर्भ में यह पद विरह वेदना की करूण अभिव्यक्ति करता है –

मधुबन तुम क्यौं रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुंदर के ठाढ़े, क्यौ न जरे।
मोहन बेनु बजावत तुम तर, साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरू जड़ जंगम, मुनि जन ध्यान हरे।
वह चितवनि तू मन न धरत है, फिरि-फिरि पुहुप धरे।

'सूरदास' प्रभु बिरह-दवानल, नख-सिख लौ न जरे॥[3]

करूण रस :

करूण रस का स्थायी भाव शोक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने करूणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''जब बच्चे को सम्बन्ध ज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है, जिसे करूणा कहते हैं।''[4] सूरसागर के पदों में भक्त की अपने इष्ट के प्रति करूण पुकार पाठकों के हृदय को भाव-विभोर कर दया से भर देती है -

अब कै राखि लेहु भगवान है
हौ अनाथ बैठयौ, द्रुम-डरिया, पारधि साधे बान॥
ताकै डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुःख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान॥
सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छूटयौ संधान।
'सूरदास' सर लग्यौ सचानहि, जय जय कृपानिधान।[5]

वीर रस - वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। आचार्य शुक्ल ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि ''उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनन्द का योग रहता है। साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है। केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फूर्त नहीं होता। उसके साथ आनन्दपूर्ण प्रयन्त की उत्कण्ठा का योग होना चाहिए।''[6] सूरसागर में रामलीला सम्बन्धी पर एवं महाभारत सम्बन्धी पदों में वीर रस की रसानुभूति होती है -

दूसरै कर बान न लैहों।
सुनि सुग्रीव प्रतिज्ञा मेरी,
एकहिं बान असुर सब हैहौ।
सिव-पूजा जिहिं भाँति करी है,
सोइ पद्धति परतच्छ दिखैहौं।
दैत्य प्रहारि, पाप-फल प्रेरित,
सिर-माता सिव-सीस चढ़ै हौ।
मनौ तूल-गन परत अगिनि
मुख, जारि, जड़नि जम-पंध पठैहों।
करिहौ नाहिं बिलंब कहू अब,
उठि रावन सन्मुख है धैहों।
इमि दमि दुष्ट देव-दिज मोचन,
लंक विभीषन, तुमकौ दैहौ।
लछिमन, सिया समेत 'सूर' कवि,
सब सुख सहित अजोध्या जैहौं॥[7]

रौद्र रस :

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। सूरसागर में महाभारत एवं राम-लीला सम्बन्धी पदों में रौद्र रस का अत्यंत श्रेष्ठ व जीवन्त वर्णन प्राप्त होता है। यथा -

आजु अति कोपे है रन राम।
ब्रह्मादिक आरूढ़ बिमाननि, देखत हैं संग्राम।
धन तन दिव्य कवच सगि करि,
अरू कर धारयौ सारंग।
सुचि करि सकल बान सूधे करि,
कटि-कट कस्यौ निषंग।
सुरपूर तै आयौ रथ सचि कै, रघुपति भए सवार।[8]

भयानक रस :

इसका स्थायी भाव भय है। जिन वस्तुओं एवं वर्णनों से हृदय भयभीत होने लगता है, भयानक रस की अभिव्यक्ति करते है। शुक्ल जी के मतानुसार ''किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगापूर्ण अथवा स्तम्भ कारक मनोविकार होता है, उसी को भय कहते हैं।''[9]

चरन गहे अँगूठा मुख मेलत।
उछरत सिंधु, धराधर कॉपत, कमठ-पीठ अकुलाइ।
सेज सहस्रन डोलन लागे, हरि पीवत जब पाइ॥
बढ़यौ वृच्छ वट, सुर अकुलाने, गगन भयौ उतपात॥
महाप्रलय के मेघ उठे, करि जहाँ तहाँ आघात॥[10]

वीभत्स रस :

इस रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है। घुणित वस्तुओं एवं दुर्गन्धपूर्ण वातावरण आदि क वर्णनों से मन में व्याकुलता का भाव ही, वीभत्स रस का प्रवाह करता है। सूरसागर में महाभारत युद्ध के वर्णन में सूरदास जी द्वारा वीभत्स रस का स्फुरण मिलता है -

पारथ भीसम सौ मति पाइ।
कियौ सारथी सिखंडी आई।
भीषम ताहि देखि मुख फेरयौ।
पारथ जुद्ध-हेतु रथ प्रेरयौ।
कियौ जुद्ध अतिहिं बिकरार।
लागी चलन रूधिर की धार।
भीषम सर-सज्जा पर परयौ।

पै दछिनाइनि लखि नहिं भरयौ।
हरि पांडव-समेत तहँ आए।
'सूरज' प्रभु भीषम मन भाए।।[11]

अद्‌भुत रस :

इसका स्थायी भाव विस्मय है। विचित्र वस्तु के देखने और सुनने को जब आश्चर्य का परिपोष होता है, वहाँ अद्‌भुत रस की प्रतीति होती है।[12] सूरदास जी श्री कृष्ण की बाल लीलाओं में अद्‌भुत रस का समायोजन मिलता है –

कर पग गहि अँगूठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पाननै अकेले,
हरषि-हरषि अपने रंग खेलत।।
सिव सोचत, बिधि बुद्धि विचारत,
बट बाड़यौ सागर-जल झेलत।
बिडरि चले धन प्रलय जानिकै,
दिगपति दिग-दंतीनि सकेलात।
मुनि मन भीत भए, भुव कंपित,
सेज सकुचि सहसौ ग्न पेलत।
उन ब्रजवासिनि बात न जानी,
समुझे 'सूर' सकट पग ठेलत।[13]

हास्य रस :

इसका स्थायी भाव हास है। इसकी उत्पत्ति का मूलाधार विकृति को स्वीकार किया गया है। यद्यपि सम्पूर्ण सूरसागर भक्ति-भावना से ओत-प्रोत महाकाव्य है तथापि श्री कृष्ण की बाल लीलाओं के वर्णन का पाठन एवं श्रवण करने पर श्रोताओं के मन प्रसन्न अवश्य हो जाता है –

किलकत कान्ह घुटरूवनि आवत।
मनिमय, कनक नंद के आँगन,
बिंब पकरिबे धावत।।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँछ कौ,
कर सौ पकरन चाहत।
किलकि हँसंत राजत द्वैदतियाँ,
पुनि-पुनि तिहि अवगाहत।।[14]

शान्त रस :

इसका स्थायी भाव निर्वेद है। अधिकांशतः भक्ति काव्य शान्त रस को परिपूर्ण होते हैं। सूरसागर भी शान्त रस की सुदृढ़ अभिव्यक्ति करता है –

प्रभु कौ देखौ एक सुभाइ।
अति-गंभीर उदार-उदधि हरि, जान सिरोमनि राइ।
तिनका सौ अपने जनकौ गुन मानत मेरू-समान।
सकुचि गनत अपराध-समुद्रहिं बूँद-तुल्य भगवान।
बदन प्रसन्न कमल सनमुख है देखत हौ हरि जैसे।[15]

वात्सल्य रस :

इसका स्थायी भाव वात्सल्य (पुत्र स्नेह) है। इसका स्वरूप स्वीकार करने में मतभेद भी है। महाकवि सूरदास के काव्य में श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन सर्वाधिक किया गया है। सूरसागर में वात्सल्य रस के भी दो रूपों का वर्णन मिलता है – संयोग वात्सल्य एवं वियोग वात्सल्य। संयोग वात्सल्य का आशय उस कथा से है जब कृष्ण यशोदा जी के साथ व्रज में थे –

ऐसे दिन विधना कब करि हैं।
स्याम-सुन्दर की सुनिये बातै, कब धरती पग धरिहै।।
प्रातहिं उठत कलेऊ कारन, सीकै, बासन टरिहै।
कब मोसौ मैया कहि बोलै, पेट पै लोटि झगरिहै।।[16]

वियोग वात्सल्य का तात्पर्य उस कथा से है जब वह मथुरा चले गये थे –

मोहन नैंकु बदन-तन हेरौ।
राखौ मोहि नात जननी कौ,
मदन गुपाल लाल मुख फेरौ।
पाछै चढ़ौ विमान मनोहर,
बहुरौ ब्रज मैं होत अँधेरौ।
बिछुरन भेंट देहु ठाढ़े है?
निरखौ घोष, जनम कौ खैरौ।
गए न प्रान 'सूर' ता अवसर,
नंद जतन करि रहे घनेरौ।।[17]

निष्कर्षत : हम कह सकते हैं कि सूरसागर में श्रृंगार करूण, शान्त, वातसल्य इस का मुख्य रूप से तथा अन्य रसों का गौण रूप से प्रतिपादन हुआ है।

***शोधार्थी**
राजकीय महिला महाविद्यालय
बदायूँ, उत्तर प्रदेश

****सहायक प्राध्यापक**
राजकीय महिला महाविद्यालय
बदायूँ, उत्तर प्रदेश

संदर्भ सूची

1. सरस्वतीकण्ठाभरणम् - 5-3
2. गुप्त, डॉ. किशोरी लाल, सम्पूर्ण सूरसागर, भाग-2, पद सं. -1227
3. वही, भाग-2, पद सं. -1472
4. शुक्ल, रामचन्द्र, चिन्तामणि, भाग -1, करूणा पृ. 28
5. गुप्त, डॉ. किशोरी लाल, सम्पूर्ण सूरसागर, भाग-1, पद सं.-81
6. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, चिन्तामणि भाग-1, उत्साह पृ.-8
7. गुप्त, डॉ. किशोरी लाल, सम्पूर्ण सूरसागर, भाग-3, पद सं. -400
8. वही, भाग-3, पद सं. 401
9. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, चिन्तामणि, भाग-1 - भय, पृ.-81
10, गुप्त, डॉ. किशोरी लाल, सम्पूर्ण सूरसागर, भाग-1, पद सं. -313
11. वही, भाग-3, पद सं. -58
12. मिश्र, रामदहिन, काव्य दर्पण, पृ. 256
13. गुप्त, डॉ. किशोरी लाल, सम्पूर्ण सूरसागर, भाग-1, पद सं. -312
14. वही, भाग-1, पद सं. -345
15. बाजपेयी, नंददुलारे सूरसागर, भाग-1, पद सं. 8
16. गुप्त, डॉ. किशोरी लाल, सम्पूर्ण सूरसागर, भाग-1, पद सं. -316
17. वही - पद सं. - 1346

डॉ. नारायण कुमार झा

मध्यकालीन मिथिलाक आर्थिक जीवन

मिथिला प्राचीन काल सँ कृषि प्रधान रहल अछि। एहि ठामक लोकक जीविकाक प्रमुख साधन कृषि छल। मिथिलाक सबसे पैध विशेषता ई छल जे एकर चारू माग नदी विघ्यमान अछि। नदीक कछेर पर वसल रहवाक कारणेँ एक नाम तीरमुक्ति पडल। मिथिलाक आर्थिक स्थिति सामान्यतः नीके कहल जऽ सकैछ। ज्योतिरीश्वर ठाकुरक वर्णरत्नाकरक अध्ययन एवं विघ्यापति रचित कीर्तिलताक वाजार, नगर, हाट, आदि वर्णन सँ तत्कालीन मिथिलाक आर्थिक स्वरूपक स्पष्ट रूपरेखा उपस्थित भऽ जाइत। ओना कृषि कार्य सरल नहि छल। अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि सँ वतुधा उपज में वाधा पड़ैत छलैक। मुदा एहि गामक भूमि उर्वर छल। हिमालय सँ गंगा, गंडक, महानन्दा धरि विस्तृत मिथिलाक भूमि पृथ्वीक नव निर्मित भू-भाग मानव जाइत अछि[1] नदी मातृक एवं देव मातृक उपयविघ्य रहलाक कारणेँ मिथिलाक वसुधक उर्वरता संपूर्ण भारत में विशुध अछि। कोनो स्थान विशेषक आर्थिक अध्ययन में ओहि स्थानक खेती बाड़ी, व्यापार-उद्योग तथा सामान्य जनताक तत्संबंधी प्रवृति पर ध्यान देव आवश्यक होइछ। विद्यापतिक द्वारा रचित लिखनावली पत्र सँ ज्ञात होइत अछि जे खेती कोदारि सँ कयल जाइत छल। लोक कँ समाज में सम्मान प्राप्त करवाक लेल खेती परमावश्यक शुलभ जाइत छल। केन्द्र में मुहम्मद बिन तुगलक कृषि विभागक स्थापना कयल जक रनाम दीवाने कोही राखल गेल। राज्यक दिस सँ आर्थिक सहायता दा कृषि योग्य भूमिक विस्तार कयल गेल जकर प्रभाव मिथिला पर स्पष्ट पड़ल। फिरोज शाहतुगलक सेरो कृषि कँ प्रोत्साहन देलनि। अपन अधीन शासक लोकनिकँ नगर अथवा सरोवर खुनैवाक आरंभ निर्गत कयलनि वादि नियंत्रण पर्याप्त उपाय कयलनि। राजस्व प्राप्ति लेल कृषि योग्य भूमिक जनेक भग कयलनि- यथा -

1 पोलज - जाहि जमीन पर प्रत्येक साल वुआइक कार्य होइत छल।

2 परती - जाहि भूमि पर बुआइ नहि होइत छल ओकरा परती कहल गेल।

3 दायर - जखन जमीन दू-तीन साल धरि विना बुआइक रहैत छल तै ओकरा दायर कहल जाइत छल।

4 वंजर - जखन जमीन दू-तीन साल सँ अघिक विना जोइत कोड़ अथवा बुनाइक रहैत छल तँ ओकरा वंजर भूमि कहल जाइत छल।

थ्कसान सँ राजस्व प्राप्तिक लेल नव नव प्रयोग कयल गेल बटाई प्रणालीक अनेक भेद एवं उपभेद कयल गेल -

1 रास वटाई - एहि मे फसल काटि लेल जाइत छल, तत्पश्चात ओकर भूसा या दाना अलग अलग कए किसान आ सरकार में निश्चत अनुपात मे वॉटि लेल जाइत छल।

2 खेत वटाई - एहि मे खेत मे लागल फसल काहि कऽ ढेर लगा लेल लाइत छल तथा विना भूसा अलग कयने दूनू पात्र वॉटेत छला।

3 कनकूत - एहि मे खेत मे लागल फसल सँ प्राप्त भेनिहार उपजक अनुपात कऽ सरकारी अघिकारी, गेल प्रमुख जा कृषक संग संग धुमि के करैत छला। कृषक एवं सरकारक भाग निर्धारित करैत छल। विद्यापतिक विवरण सँ ज्ञात होइत अछि जे ओइवार कार्य मे लोक खेती पधारी

छोड़ी दोसर धयसाथ कॅ भागवत बुझय लागल छल।

वर्णरत्नाकर सॅ चाउर, जॉ विमान प्रकारक दालि, मटर, तेलहन, रूई दाना आदि वस्तुक उपज मिथिला मे होइत छल। मन्दजातिक लोक सम पिआजु एवं लहसुन खेती सेहो करैत छल। तिब्बत यात्रीधर्मस्वामी अपन यात्रा संस्मरण में मिथिला में कुसियार तथा पानक खेती हीयवाक उल्लेख कयने छलि। ज्योतिरीश्वर मिथिलाक पान लगएवाक कला कॅ वड़ विन्यास पूर्वक वर्णन कैलनि अछि। देशक विमिग्न प्रान्त सॅ पानक मसाला सभ मंगाओक जाइत छल।

वर्णरत्नाकर मे 30 प्रकारक वस्त्रक उल्लेख भेल अछि। मैषिल लोकनि, तैजोर, सिलहट, अजमेर, कांची, चोलप्रदेय, कामरूप, बंगाल, गुजरात, काठियावाड़ा, तेलगांना[2] प्रमृति रेशक अनेक भाग सॅ नीक नीक वस्त्र मगवैत छलाह। अर्थव्यवस्थाक विमिन्न पक्ष कृषि, व्यापार, कर मुद्रा आदि होइत अछि जकर विश्लेषण, ज्योतिरीश्वर, विद्यापति एवं हुनक समसामयिक रचना मे भैटेत अछि। प्राचीन समय मे वैश्यक कार्य व्यापार करव छल युद्वा मघ्यकाल मे अन्यो जाति, उपजाति व्यापार मे लागि गेल छल। व्यापारक महत्ता कॅ देखकैत विद्यापति पुरूष परीक्षाक एक कथा मे लिखैत छथि–

पतिमुक्ता न या नारी व्यवसायी न य पुमान तावुचौ च विलीयेते तृष्टि पाषण खण्डवत अर्थात जाहि नारी कॅ पति मे भक्ति नहि छैक आओर जाहि पुरूष कॅ व्यवसाय नहि छैक से दुनू ओहिना विला जाइछ जेना वर्षा मे खसल पाकार खण्ड। मनुायक आर्थिक क्रिया सभ दैनिक एवं सामाजिक आवश्यकता समक पूर्ति हेतु होइछा। आवश्यकता असीमित अछि। मनुष्य अपन सभ आवश्यक वस्तुक उत्पादन स्वयं नहि कए सवैछ, प्रत्युत आवश्यकता समूह क किछुए अशंक उत्पादन स्वयं कए सकैत अछि। शेवांश हेतु अपन उत्पादित वस्तुक अथवा ओहि सॅ प्राप्त युद्वाक विनिमय द्वारा पूर्ति कए सरैछ। परस्पर विनिमय सॅ व्यापारिक उघ्योगक जन्म, प्रचार एवं प्रसार होइछ। मिथिला मे सिन्धु, श्रीहटट्, सिहलद्वीप, कॉची मलय पंचौर, मगध, वंगाल आदि स्थान सॅ वस्तु समक आयात–निर्यात छल। देशक अन्य प्रान्त सभ मे मलाया, वर्मा, चीन, अरब, फारस, दक्षिण अफ्रीका, पुतर्गाल आदि स्थान सॅ सामुद्रिक व्यापार संचार छला। एहि हेतु देय मे 300 वन्दगाह छली। निर्यातक मुख्य वस्तु कपड़ा, चाउर, लोहा, चीनी एवं मसालादि आओर आयातक मुख्य वस्तु छल– धोड़ा, हाथी, धोती बहुमूल्य पाषक, पारद चीनी रेशमी एवं मखमली वस्त्र आदि। देशक भीतर यातायात एवं भारवहनक मुख्य साधन दल धोड़ा, वहद, वैलगाड़ी, गदहा, उॅट एवे भार उठौनिहर। वर्णरत्नाकर मे विभिन्न प्रकारक उपयोग धन्धाक वर्णन आसल अछि।

क वस्त्र उद्योग– वस्त्र उद्योग भारतवर्षक एक वड़ पैध उद्योग छल। अन्य प्रान्तक अरिरिक्त मिथिला एवं बंगाल मे कपासक खेती विस्तृत क्षेत्र कएल जाइत छल[3] तिब्बती यात्री धर्मस्थली मिथिला मे कपास क खेतीक उल्लेख कएने छथि। सूत कताई एवं बुनाई मिथिलाक प्रमुख गृह उद्योग छल। रेशम बंगाल मे तैयार कएल जाइत छल आओर मिथिला मे ओकर कपड़ा तैयार करवाक हेतु मगाओल जाइत छल। मिथिला यद्यपि कपड़ा उत्पादनक केन्द्र नहि छल मुदा खपतक दृष्टिकोण सॅ मिथिलाक वालाह बड़ महत्वपूर्ण छल। वर्णरत्नाकर मे वस्त्रवर्णन, देशीय वस्त्र वर्णना[4] एवं निर्भूषण वस्त्रवर्णना आएल ओछ। जाहि मे 66 प्रकारक पटअम्बर, पटटवस्त्र एवं साधारणवस्त्रक चर्चा आएव अछि। कपड़ा उत्पादनक संग–संग जोकर रंगाई एवं छपाईक उद्योग सेहो यत्र–तत्र छल। तैयार कपड़ा नाम सॅ अथवा तौल सॅ नगद एवं वदलेन पन बाजार मे उपलब्ध छल।[5]

1 द्रव्य–उद्योग – द्रव्य अद्योग वड़ प्राचीन उद्योग अछि, जे मुख्यतः आभूषण, कृषि एवं धरेलु औजार, तथा वर्तन–वासनमूर्ति एवं सिक्का तथा रत्नात्मक औजार उत्पादन आवश्यकताकॅ ध्यान में राखि चलाओल गेल छल। कीर्तिलता एवं वर्णरत्नाकर मे विभिन्न द्रव्य सॅ निर्मित विभिन्न प्रकारक वस्तुक संग–संग विभिन्न प्रत्येक विभिन्न व्यापारी समुदायक वर्णन आण्य आदि मिथिलाक वर्णक, हीरा, मोती, मुकता, सुवर्ण रजत, ताम,जम्ता,रागा–रोगा, पीतरि आदि मणि–मणि यादि वस्तु द्रव्यक विशेषज्ञ होइत छल। वर्णरत्नाकर मे 36 प्रकारक दण्डायुर्धक चर्चा अछि। नान्मदेवक सुप्रसिद्व मती श्रीधरदास द्वारा स्थापित कमलजित स्थानक एक रती प्रस्तर पूर्ति मे अनेक प्रकारक तत्कालीन आभूषण तथा चित्रमय पाढ़िवाला साड़ी ओरि युगक रती, आभूषण एवं वस्त्र प्रेषक उत्कृष्ट उदाहरण अछि। अतः एहि सॅ ई प्रमाणित होइत अछि ॲ खानीय सोनार आभूषण वनएवा में सिद्वहस्त होइत छलाह।

2 काष्ठ उद्योग – धरेलु उपस्कर तथा यातायातक आवश्यकता एहि उद्योग के जन्म देलक। वर्णरत्नाकर मे

आम, शीशम, सखुआ, वॉस, वैंर, कटहल आदि अनेक बहुमूल्य जंगली काढ़क चर्चा आयात अछि जे निश्चित रूपें काष्ठ उपयोग कॅ अनुप्रमाणित कएलक। जनसाधारण, जलीदार एवं राजालोकनिक हेतु सुतवा-वैसवाक लेल विभिन्न प्रकारक रत्नजटित पलंग, आदि क वर्णन मे हैत अछि। नॅ एहि समयक कपार समक सिद्वहस्तकताक परिचायक थिक। यातायातक हेतु पालकी एवं खडखडियाक निमार्ण होइत छल। ओ वनएवाक एक विस्तृत एवं सम्पन्न अद्योग चर्चा वर्णरत्नाकर मे मैहैत अछि। 1234-36 मे तिब्बती यात्री धर्मस्वामी जे मिथिला एवं समीपवर्ती प्रान्तक वर्णन कएने छथि ताहि सॅ ई ज्ञात होइत अछि जे यात्री समकॅ गंगा आदि पर करवाक हेतु नाओक व्यवस्था कराओक जाइत छल। वर्णरत्नाकर में 29 प्रकारक नाओक वर्णन भेल अछि। नाओ सम मे घ्वजा पताका संग-संग खिड़की, केवाड़युक्त धरक इन्तजाम सेहो रहैत छल।

3 दुग्ध आपूर्ति उद्योग - प्राचीन काल सॅ मिथिला सुसंस्कृत समृद्ध कृषि एवं त्रषि प्रधान देश रहल अछि। धार्मिक कटटरता एवं आतिश्य सत्कार एकर गौरव रहलैक अछि। दुग्ध आपूर्ति उद्योग मिथिलाक समृद्ध रहल अछि। दूध दही एवं धी ने केवल लोकक मुख्य आहार रहलैक अछि प्रत्युत पूजादि शुभकार्य में एकर प्रमुखता मानक जाइत रहल अछि। वर्णरत्नाकर मे मिथिलाक दहीक विलक्षण वर्णन अछि। दही एतेक सक्कत एवं मक्कखनयूक्त रहैत छले जे। चिक्कणताह जिहवादि विवाद तारू छोड़ाविअ जिहवा न छाड़ए जिहवा छोड़ानिअ तारू न छाड़ए। एक छओ दहीक वर्णन पदिमनीक पत्र पर दक्षिणवर्त शंख सुताओल जकॉ कएने छलि। वर्णरत्नाकर में आठ जातिक महीसक चर्चा आएल अछि जे जालन्धर, मध्यप्रदेश विदर्भ सौराष्ट प्रकृति देशक विभिन्न प्रान्त सॅ मंगाओल जाइत छल।[7] चौदह शताब्दीक दोसर खण्ड में प्रतिसेर छी वाजार मे अढ़ाई जितल अर्थात आधुनिक 68 पैसाक करीब छल एवं प्रकार मिथिलाक दुग्ध उद्योग समृद्वि छल।

4 पान उद्योग - वर्णरत्नाकरक अघ्ययन एवं अनुशीलन सॅ ज्ञात होइत अछि जे मिथिला मे पानक विस्तृत अद्योग छल। पान साधारण तथा अघिकांश लोक खाइत छल। अलवरूनी उपन यात्रा संस्मरण मे मिथिलाक प्रान्तीय विशेषता मे पान खएवाक परिपाटी लिखलन्हि अछि। पानक 13 टा गुणक वर्णन अछै। यथा कटु, तिकत, कषाय, क्षार, उष्ण, मधुर, मुख्ययोमक, सुरस, स्वादु, सरस, सन्दीपक, कामाग्निक समानक एवं पवित्र। एही गुण समक कारणॅ मिथिला मे पानकॅ स्वर्ग दुर्लभ वस्तु कहल गेल अछि। पानक उद्योग एतेक समृद्वएवं प्रख्यात छल जे देश विदेश सॅ एकर सामग्री मंगामाल जाइत छल। तवकयुक्त पानक उल्लेख सेहो आएल अछि। एवं प्रकारें इम देखेते छी जे मध्यकालीन मिथिला मे पानक एक समय उद्योग पसरल छल।

5 अन्य लधु उद्योग - किछु लधु उद्योग तत्कालीन मैथिल समाज मे विध्यमान छल। मैमी, पौती पनवटटी आदि। मिथिलाक गृह उद्योग परम्परागत विशेषत रहल अछि। किछ न्यूनर्गक लोक पाग एवं टोपी वनएवा में सिद्वक्षत छल। किछु औद्याागिक मजदूर यथा लोहार, कमार, कुम्हार, डोम, चमार, मलाह, गोआर, सूत्री, साहु, धानुक, धनिया, तेली आदि धरेलु व्यवहारक औजार, हर, पॉलो, गाडी़, माटिक वर्तन, वॉसन वर्तन, जूता, रस्सा डोरी, पंखा आदि बनवैत छल। एहि सॅ स्पष्ट होइछ जे मध्यकालीन मिथिला मे प्रत्येक वर्जक लोक अपन अपन वर्गगत धन्धा में आस्था पूर्वक हाट बाजार समूह छल।

6 मुद्रा - मुद्राक अर्थ होइत अछि प्रत्ययकारिणी अर्थात विश्वासकारिणी। भाषा मे एकरा मोहरा सेहो कइल जाइत अछि आवश्यकता समक पूर्विक हेतु मनुष्यकॅ अन्य व्यक्ति द्वारा उत्पादित वस्तुक आवश्यकता प्रतीत होवए लगलैक। आर्थिक मनुष्य द्वारा उत्पादित वस्तुक विनिमय कए लैत छल। मुद्रा आवश्यकता पड़ैत छल जकर उपलब्धि समीपक स्थान में शंभव नहि छल। एहनो संभावना रहैत छल जे अपन वस्तुक बदला मे ओकर इच्छित वस्तु ओकरा नहि भेटि सकैत छल करण ई कोनो जरूरी नहि छल जे ओकर उत्पादित वस्तुक आवश्यकता ओकरा छैल। एहि तरहक विनिमय मे एक असुविधा इहो रहैत छल जे कोनो वस्तुक कतवा मात्रा दोसर वस्तुक कतवा मात्राक बदला मे भेटि सकेछ। फलतः एहि व्यवस्था सॅ हानि होएवाक संभावना रहैत छल। अतः विनिमयक एहि अदला बदली पद्वति मे अनेक प्रकारक असुविधा सभ उत्पन्न होइए लागल। विनिमयक हेतु कोनो एहेन वस्तुक आवश्यकता प्रतीत होवए लागल जाहि द्वारा सम वस्तुक मूल्यांकन कएल जा सकैछ। एहि कम मे सोना, चानी, तॉवा धातु विनिमयक साधन बनल। ओहि समय मे सिक्काक अनैकानक रूप प्रचलित छल। टेक, कौड़ी, कपर्दक, वरातिक, पुराण, कार्षापण, काकिनी, स्वर्ण दिनार , निष्क, धनिका, टोटाका

आदि वर्णरत्नाकर से पॉच प्रकारक सिक्काक उल्लेख अछि। यथा कटा, गण्डा, वोडि, पण तथा दामम[8] कौडीक एक गण्डा, ठुरी अर्थात पणुक एक आना हिस्साक वरावरि होइत छल।[9] मिथिलांचल मे अनेको राजा स्वतंत्र सिक्का चलालोल। महाराजा अपना अपना नायक मुद्रा प्रचलन करैत छलाह।

कोनो समानक विकासक एकरा प्रमुख सोपान आहिठामक अर्थव्यवस्था कॅ मानल जाइत अछि। आर्थिक सम्पन्नता समाजकॅ विकासक दिस उन्मुख करैत अछि आ आर्थिक विपन्नता पतन दिस। मध्यकालीन मिथिलाक आर्थिक स्थितिक परिचय विशेषत: वर्णरत्नाकर आ विध्यपतिक रचना सभ मे भेटैल अछि। साधारणत: कृषि आ व्यापार उन्नत स्थिति मे छल मुद्रा इहो सत्य अछि जे समाजक अर्थव्यवस्था संतोषप्रद नहि छल।[10] अर्थव्यवस्था मे ततेक विषमता छल जे समाज मे असमानताक साम्राज्य भऽ गेल छल। एक दिस तै राजा–रानी, सामन्त अपन दास दासी मृल आदिक संग अनेकानेक सुविधाक उपयोग करैत प्रसाद मे विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करैत छलाह दोसर दिस एहनो लोक छल जकरा धरो–डार नहि छलैक। समय समय पर पेरक ज्वालाकॅ शान्त करवाक लेल निम्नवर्गीय लोक अपन शरीर पर्यन्त निकी कऽ दैत छल।[11] विध्यापतिक पदावली सॅ ज्ञात होइछ

धनिक अवदर सव तह होए
निरधन वापुन पुछ नहि कोए।

प्राचीन काल अहॉ एहि समय मे लगान पर राजाक सोके अधिकार नहि रहला। व्यक्ति तथा व्यक्ति विशेष कॅ लगान असूभवाक अधिकर देल गेल जे ओकर वेतन समतुल्य मानल गेल। ब्राहमण तथा विद्वान के अग्रसार या ब्रहमदेय अनुदान देल जाइत छल। अनुदान प्राप्त भूमि पर राजाक कोनो वैध अधिकार नहि रहि जाइत छल। राजा ओ किसान बीच एकरा मध्यवर्ती लोक आवि गेल। भूमि पर खेती कयनिहार किसान राजा सॅ अधिक महत्व सामन्तक भऽ गेल। कारण लगान असूएण करवाक अधिकार हिनका लोकनिकॅ भेटल छल। संभवत: यैह सब कारण के देखि विध्यापतिक समय मे लोक कृषि कॅ छोड़ि अन्य व्यवसाय दिस उन्मुख भेल छल।

सहायक आचार्य, मैथिली विभाग,
डी.एस. कालेज, कटिहार

संदर्भ सूची

1. विद्यापति कालीन मिथिला, डॉ. इन्द्रकान्त झा, पृ. 210
2. वर्णरत्नाकर, पृ. 22
3. बिहार थ्रू द एजेज, पृ. 460
4. वर्णरत्नाकर, पृ. 21–22
5. बिहार थ्रू द एजेज, पृ. 460
6. मिथिला तत्व विमर्श, पृ. 3–4
7. वर्णरत्नाकर, पृ. 35
8. वही, पृ. 13
9. प्रामाणिक हिन्दी कोश, रामचन्द्र वर्मा, पृ. 522
10. विद्यापति कालीन मिथिला, डॉ. इन्द्रकान्त झा, पृ. 207
11. वही, पृ. 220

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

शोध-पत्र

ज्ञान प्रकाश मिश्रा

जयशंकर प्रसाद के नाटकों का मूल्यगत अंकन : आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

सार :-

मनुष्य समाज से बद्ध प्राणी है। समाज में उसके मूल्य उसके व्यक्तित्व के परिचायक होते हैं। भारतीय संस्कृति में प्राचीन समय से ही समाज में मूल्य सर्वोपरि रहे हैं। साहित्य में भी आदिकाल से जीवन मूल्यों को प्रमुखता से अभिव्यक्त किया गया है। जयशंकर प्रसाद के रचनाकाल के समय समाज में अनेक विसंगतियां एवं निराशा का वातावरण व्याप्त था। ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों से हताश समाज में एक क्रांति की भावना को जगाने के लिए प्रसाद ने भारतीय मूल्य को अपने साहित्य में स्थान दिया। उन्होंने मानव जीवन के शाश्वत गुणधर्म को समझा और रचनाकार के दायित्वों का उचित निर्वाह करते हुए युगीन समाज को स्वस्थ विकसित करने एवं भारतीय संस्कृति के लुप्त स्वरों को पुन: स्थापित करने के उद्देश्य से अपने रचना संसार में प्राचीन तथा नवीन भारतीय मूल्यों को अभिव्यक्त किया।

बीज शब्द :-

मूल्य, भारतीय मूल्य, औपनिवेशिकता, समानता, बंधुत्व, सांप्रदायिकता, नारी अस्मिता, समकालीनता।

मूल्य का साधारण धर्म है प्रवाह या निरंतर परिष्कार की प्रक्रिया। युगानुरूप परिस्थितियां मूल्यों में परिवर्तन के लिए प्रमुख उत्तरदायी कारक हैं। मूल्य सामाजिक व्यवस्था का नियमन करते हैं तथा साथ ही सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन से मूल्य भी प्रभावित होते हैं। अत: जब भी किसी समाज में धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था में स्पष्ट परिवर्तन परिलक्षित होता है, तो मूल्यों में परिवर्तन होना आवश्यक हो जाता है। यदि मूल्य समयानुसार परिवर्तित नहीं होते हैं तो समाज का नियमन करने और मार्गदर्शन करने के स्थान पर समाज के विकास की गति को रुद्ध कर देते हैं।

मूल्य मानव की अनुभूति पर आश्रित होते हैं और अनुभूतियों, परिस्थितियों पर आश्रित होते हैं। इस प्रकार परिस्थितियों में परिवर्तन के फलस्वरूप मूल्यों में भी परिवर्तन होता है। इस विषय में 'डॉक्टर रामदरश मिश्र' कहते हैं कि-''मूल्यों का बोध सर्जक को तत्कालीन जीवन संदर्भ से प्राप्त होता है। बहुत सी मान्यताएं, मूल्य किसी युग में आकर पुरानी पड़ जाती हैं। अनेक मूल्य भी सारहीन सिद्ध हो जाते हैं। युग नए मूल्यों की खोज करता है। नए जीवन दर्शन बनते हैं। जागृत संवेदना और विश्लेषण शक्ति संपन्न बुद्धि इन मूल्यों को संस्कृतियों को चेतना का अनुभव कराती हैं। नए मूल्यों की खोज करती हैं।''

वैसे तो मूल्य शाश्वत होते हैं परंतु समयानुसार उनमें परिवर्तन भी आते हैं। नवीन भारतीय मूल के निर्माण की प्रक्रिया अंग्रेजों के आगमन के पश्चात आरंभ हुई। भारत में औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ होने के साथ प्राचीन सामाजिक श्रृंखला तथा सामंतवादी सत्ता व्यवस्था की बेड़ियां टूटने लगी। राजा व प्रजा के अलावा एक अन्य मध्यवर्ग का भी उदय हुआ। स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह, विवाह सम्मती आयु, संपत्ति अधिकार व न्याय प्रणाली, नवीन कर प्रणाली लेकर सुधार हुए। धीरे-धीरे राजनीति व सत्ता का विषय आमजन मानस तक पहुंचने लगा। इस इन सभी परिवर्तनों से भारत का सामाजिक ढांचा बदलने लगा

जिसके कारण समाज को नवीन मूल्यों व सिद्धांतों की आवश्यकता होने लगी जो समाज का नियमन कर उसका मार्गदर्शन कर सकें।

पश्चात प्रभाव तथा वैश्वीकरण की अवधारणा के चलते विश्वभर के अनेक दार्शनिक व चिंतक तथा लेखकों के विचार भारतीय साहित्य को प्रभावित करने लगे, साहित्य अब अपने परंपरागत कलेवर को छोड़कर आमजन मानस के साथ तादात्म्य स्थापित करने लगा अब वह सिर्फ राज्यसभा में सामंतों का हृदय रमण करने वाला नहीं रह गया।

1789 में हुई फ्रांस की क्रांति ने संपूर्ण विश्व को स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का नया मानवीय मूल्य दिया। इससे संपूर्ण विश्व प्रभावित हुआ। 20वीं सदी के आरंभिक दौर व मध्य में स्वतंत्र हुए देशों ने स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व को देश व संविधान के प्रमुख मूल्यों के रूप में अपनाया।

जयशंकर प्रसाद का उद्भव ऐसे समय में हुआ जब भारत में औपनिवेशिक सत्ता का शासन था। भारत अपने फैसले स्वयं नहीं ले सकता था ब्रिटेन में बैठे लोग भारतीय जनता के वर्तमान व भविष्य का निर्णय कर रहे थे। इस समय देश में महात्मा गांधी के राजनैतिक व सामाजिक आंदोलन का प्रभाव समाज के साथ साहित्य पर भी पड़ा। इस दौर के साहित्यकारों ने अपने लेखन में गांधी के विचारों को प्रश्रय दिया।

राजनैतिक दृष्टि से इस समय भारत गुलाम था, देश में सत्ता चयन में भारतीय लोगों की भूमिका नगण्य थी, सत्ता का जनता के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं था, किसी भी राजनैतिक आंदोलन को बलपूर्वक कुचल दिया जाता था। 1919 का जलियांवाला बाग हत्याकांड अंग्रेजी राज की क्रूरता का परिचायक है।

सामाजिक दृष्टि से देश में इस समय वर्ण व्यवस्था, जाति प्रथा, स्त्री के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण, बाल विवाह, सती प्रथा, छुआछूत आदि का बोलबाला था। देश की 85% के लगभग जनसंख्या निरक्षर थी जिसके कारण देश में उच्च जन्म दर व मृत्यु दर व्याप्त थी। मनुष्य की पहचान मनुष्य ना होकर जाति व वर्ग के आधार पर थी। अधिकतर लोग वर्ण व्यवस्था के द्वारा निर्मित व्यवस्था के कार्यों में संलग्न थे। स्त्री शिक्षा की व्यवस्था कमोवेश ना के बराबर ही थी जिसके कारण शारीरिक व मानसिक रूप से परिपक्व होने से पहले उनका विवाह हो जाता था। 1828 के बाद विलियम बैंटिक व राजा राममोहन राय के प्रयासों से स्त्री प्रथा का तो अंत हो गया था परंतु नारी स्थिति में और अधिक सकारात्मक परिवर्तन की आवश्यकता थी।

धार्मिक दृष्टिकोण से यह काल संघर्षो का काल था। अंग्रेजों की ''फूट डालो और राज करो'' की नीति से हिंदू-मुस्लिम एकता को गहरा आघात पहुंचा था। 1919 के खिलाफत आंदोलन को छोड़ दिया जाए तो इस दौर में हिंदू-मुस्लिम अलग-अलग रास्ते पर ही रहे। इस समय देश में स्वास्थ्य का स्तर भी अत्यंत निम्न ही था।

उपरोक्त लिखित परिस्थितियों में किसी भी साहित्यकार के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती समस्या का हल प्रस्तुत करना है। ऐसे समय में प्रसाद जी ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की पुनर्व्याख्या के माध्यम से तत्कालीन समस्या को हल करने के लिए विकल्प प्रस्तुत किया।

जिस स्त्री मुक्ति व स्त्री स्वातंत्र्य का विषय समकालीन समय के सबसे ज्वलंत विषयों में से एक है, इस पर प्रसाद की 1910 के दशक में ही विचार कर रहे थे। अजातशत्रु नाटक की नायिका शक्ति मति व सेनापति कार्यालय के बीच संवाद इसका साक्षी है-

शक्तिमती- तुम इतने कायर हो यदि मैं पहले जानती।

कारायण- तब क्या करती? अपने स्वामी की हत्या करके अपना गौरव अपनी विजय घोषणा स्वयं सुनाती।

शक्तिमती- क्या हम पुरुष के समान नहीं हो सकतीं? क्या चेष्टा करके हमारी स्वतंत्रता नहीं पद दलित की गई है? देखो गौतम ने स्त्रियों को भी प्रव्रज्या लेने की आज्ञा दी थी।

समानता का तत्व नवीन मानवीय/भारतीय मूल्य के रूप में उभरा है। लोकतांत्रिक उदारीकरण की प्रक्रिया के बाद उत्तरदायी सत्ता के गठन, नवीन न्याय प्रणाली, संविधान आदि तत्वों से समानता को स्थापित करना समाज व राष्ट्र की प्राथमिकताओं में वरीय है। ऐसे में यह देखना आवश्यक हो जाता है कि अतीत की पुनर्व्याख्या के समय प्रसाद समानता जैसे तत्वों पर विचार कर रहे थे या नहीं? प्रसाद ने काल्पनिक राष्ट्रीयता का विरोध किया है, जिसमें भूखे पेट राष्ट्र पर मरने की बात की जाती है। प्रसाद की कल्पना ऐसे राष्ट्र की है जहां वर्ग समानता हो तथा प्रत्येक व्यक्ति को भय से मुक्ति मिले। इस धारणा पर तत्कालीन

समाजवादी आंदोलनों व गांधीवादी आंदोलन का प्रभाव परिलक्षित होता है। स्कंदगुप्त नाटक का पात्र पर्णदत्त कहता है कि-''अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए-हम भूखों के लिए रख छोड़ा है। वह थाती है, उसे लौटाने में इतनी कुटिलता, विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिए नहीं?''

भारत बहुलवादी देश है। ऐसे में विभिन्न धर्मों व वर्गों के मध्य संघर्ष होने का खतरा होता है। भारत अनेकता में एकता स्थापित करने वाला देश है। जो शक्तियां राष्ट्र को विभाजित करें उनका प्रतिकार करना प्रत्येक नागरिक का उत्तरदायित्व है। ये विभाजक शक्तियां एक हद तक वही हैं जो आज भी भारत में किसी न किसी रूप में विद्यमान है । सांप्रदायिक संघर्ष की समस्या स्कंदगुप्त कालीन भारत के साथ-साथ 1930 के भारत में तथा आज के भारत में भी विद्यमान है। स्कंदगुप्त नाटक का पात्र धातुसेन कहता है कि-

''अहंकार मूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मावाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इनकी करुणा की क्या आवश्यकता थी?''

प्रख्यातकीर्ति-''हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखाएं हैं, आओ, हम दोनों के विचार के फूलों से दुख-दग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करें।''

वस्तुतः साहित्य लेखन तत्कालीन समय की समस्याओं को रेखांकित करने तथा समस्या को हल करने के नवीन विकल्प प्रस्तुत करने के लिए होता है। परंतु ऐसा साहित्य व साहित्यकार काल विशेष या युग विशेष के ही होकर रह जाते हैं जिनकी रचना समय की देहरी को पार नहीं कर पाती। परंतु कुछ ऐसे भी साहित्यकार होते हैं जिनके लेखन युग बद्ध होता है, परंतु उनका संदेश समय की सीमाओं को पार कर कालातीत हो जाता है जयशंकर प्रसाद इसी कोटि के साहित्यकार हैं।

जयशंकर प्रसाद का आधार प्राचीन भारतीय संस्कृति है, समस्या पूर्ति वर्तमान की जटिलता तो दृष्टि भविष्य के निर्माण की ओर उन्मुख है। उनके नाटकों का आधार या पृष्ठभूमि भले ही प्राचीन भारतीय संस्कृति रही हो परंतु उनसे निकला संदेश वर्तमान को सुधारने व भविष्य को सुदृढ़ करने वाला हो।

युग चेतना की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों का महत्व हिंदी नाट्य साहित्य का एक स्वीकृत तथ्य है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि- ''यद्यपि प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक हैं पर उनमें आधुनिक आदर्श और भावनाओं का आभार इधर-उधर बिखरा मिलता है, स्कंदगुप्त और चंद्रगुप्त दोनों में स्वदेश प्रेम, विश्वप्रेम, मानवतावाद और आध्यात्मिकता का आधुनिक रूप रंग बराबर झलकता है। आज काल के मजहबी दंगों का स्वरूप भी हम स्कंदगुप्त में देख सकते हैं।'' वहीं हिंदी साहित्य के प्रख्यात आलोचक व निबंधकार डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि- ''प्रसाद जी के नाटकों से भारतवर्ष की अंतर चेतना के दर्शन का सिंहद्वार अनावृत हो गया है।''

प्रसाद के नाटकों में उनके समय का ताप अंकित है। उनमें प्रसाद के समकालीन भारत की स्थिति का अंकन भी है तथा पराधीनता से मुक्ति की आकांक्षा भी है। प्रसाद जी के नाटकों में आज आर्य जाति का प्रत्येक बच्चा सैनिक और जातीयता अपने सम्राट को 'उद्धार युद्ध में सेनानी बनाने के लिए' पुकारती है जिसमें वीर युवा विदेशी आक्रांताओं का सामना करते हैं और स्कंदगुप्त के बंधुवर्मा की झांकी उद्धार युद्ध में अपने प्राणों की आहुति देते हैं, साथ ही इसमें क्षेत्रवाद व संप्रदायवाद की अवधारणा का खंडन भी है तथा राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने का प्रयत्न दिखाई देता है।

प्रसाद के नाटक स्वतंत्रता पूर्व भारत व स्वातंत्र्योत्तर भारत के संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक रहे हैं इसमें कोई संदेह नहीं। इसी संदर्भ में प्रोफेसर शिलिमख ने लिखा है कि-''प्रसाद के नाटक विशेषकर स्कंदगुप्त अब तक बराबर सामयिक रहेगा जब तक भारत का स्वातंत्र्य युद्ध सफल नहीं होता है। उसके बाद वह हमारे इस युद्ध के इतिहास का एक उज्ज्वल अंग समझा जाएगा।''

अंततः कहा जा सकता है कि जयशंकर प्रसाद एक कालजयी साहित्यकार हैं, प्रसाद के नाटकों की प्रासंगिकता 1930 के दशक में जितनी थी आज के समय में उससे भी कहीं ज्यादा। क्योंकि आज के जटिल समाज में आधुनिकतावाद व भौतिकतावाद की अंधी दौड़ में मानव अपने लक्ष्य से भटक गया है, प्रसाद के नाटकों से निकला देश आज के भटके हुए मनुष्य के लिए दीपपुंज है।

निष्कर्ष :-

हिंदी साहित्य के देदीप्यमान सितारे जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों में अप्रतिम प्रतिभा, अद्वितीय बुद्धि तथा

उत्कृष्ट कला-कौशल, आदर्श व्यक्तित्व का परिचय दिया है। भारतीय और पाश्चात्य नाट्यशैलियों का समन्वय इतिहास-कल्पना का मिश्रण,पराधीन भारत की समस्याओं के निराकरण का प्रयास उनके नाटकों में मिलता है।

जयशंकर प्रसाद के नाटक उनके जीवन की संघर्षमायी गाथा का आख्यान है। विकट स्थितियों में जीवन यापन करने वाले प्रसाद ने पराधीन भारत की समस्याओं से कभी मुंह नहीं मोड़ा। अपनी लेखनी के माध्यम से प्रसाद समस्या पर चिंतन करके उसके हल हेतु सदैव प्रस्तुत रहे। प्रसाद के नाटकों में जीवन व समाज के सभी राग उपस्थित हैं, इनके नाटकों में करुणा एवं क्षमा का, प्रेम और शांति का, कृतज्ञता एवं सहिष्णुता, देश प्रेम, राष्ट्रीयता, सामाजिक आर्थिक न्याय सभी के तत्व उपस्थित हैं। इनके नाटकों के पात्र धर्मदीप को जलाए व बचाए रखने के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर करने से भी नहीं हिचकते। कहा जा सकता है कि प्रसाद के नाटक भारतीय संस्कृति, समाज व जीवन मूल्यों का प्रतिरूप भी है और पूरक भी।

शोधार्थी
गोकुल दास हिंदू गर्ल्स कॉलेज
मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश
डॉ. वंदना पांडेय
शोध निर्देशिका (प्रोफेसर, हिंदी विभाग)
गोकुल दास हिंदू गर्ल्स कॉलेज
मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश

संदर्भ ग्रन्थ

1. स्कंदगुप्त - जयशंकर प्रसाद, लोकभारती भंडार लीडर प्रेस, संस्करण 2012, इलाहाबाद
2. ध्रुवस्वामिनी- जयशंकर प्रसाद, संजय बुक सेंटर वाराणसी, संस्करण 2011
3. हिंदी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2012, इलाहाबाद
4. जयशंकर प्रसाद- नंददुलारे वाजपेयी, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण, 2013
5. हिंदी नाटक- डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 2011, नई दिल्ली
6. हिंदी का गद्य साहित्य- रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, संस्करण 2022, वाराणसी
7. आलोचना त्रैमासिक- सं. नामवर सिंह- अंक 58, अप्रैल- जून, 2016, नई दिल्ली
8. वर्तमान साहित्य - सं. विभूति नारायण राय- वर्ष 31, अंक 10, अक्टूबर- नवम्बर, 2014

शोध-पत्र

रससिद्धान्तविषये सत्कार्यवादस्य सिद्धासिद्धविवेकः

प्रो. ब्रजेश कुमार पाण्डेयः* **अभिषेक कुमार पाण्डेयः****

सर्वत्र व्याकुलात्मनो मानवाः सुखमवाप्तये विभिन्न प्रकल्पमुपक्रान्ति, तत्रसद्यःपरमानन्दं समुद्भावनेकाव्यमेवालमिति। तदधिकृत्य प्रवर्तमानं शास्त्रं काव्यशास्त्रं प्रथते लोके। तत्र हि काव्यशास्त्रे रससिद्धान्तः विशिष्टस्थानंबिभर्ति, रससन्दर्भे काव्यशास्त्रविद्भिः बहुधा निजधिया स्वसिद्धान्तसमभीष्टविचारं प्रकाशितम्,

यथा न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः॥[1]

एवं च यथामतं तस्य स्वरूप व्याख्यायितम्, यद्यपि रसविषयकाःसंकेताः वेदादिषु प्राप्यन्त ''रसो वैसः''[2] एवं तथापि साक्षाद्रसविषयकंसूत्रं निर्मायि प्रासंगिकमिति जगदुपकृतं भरतेन। तस्य सूत्रस्यव्याख्यानं तदाआरभ्य अद्यावधिः, आचार्याः बहुधाव्याख्यायितवन्तः तस्मिन् व्याख्यानेउत्पतिवादः-

विभावः ललनोवानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणेःरत्यादिको भावो जनितः,

अनुभावः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैं प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः

सहकारिभिरूपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसइति॥[3] **यथैव अनुमितिवाद,**[4] **भुक्तिवादाः,**[5] **अभिव्यक्तिवादः**[6] **प्रमुखताम् भजते**

तथाऽपि स्वच्छतया रसविषये इदम् इत्थं प्रकारेण रसोत्पत्तिः भवतीति केनापि वक्तुं न पार्यते, अन्यच्चरसः कार्याहोस्वित् ज्ञेयमिति केनापि न वक्तुं शक्यते, अस्तु सामान्यधिया रसस्य दशाकार्यरूपेण दृश्यतेतथा च कार्योत्पतिः तु कारणेनैवभवति अतः रसरूपकार्यस्याऽपि किमपि कारणमवश्यमेव भवति। अस्य सूत्रस्यव्याख्यानेन ज्ञायते यत् सूत्रे पदद्वयं वर्तते। प्रथमदलं विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् द्वितीयदलं रसनिष्पतिरिति, पञ्चम्यन्तदलमुद्दिश्य प्रथमान्तदलं विधीयत इति, तेनार्थो लभ्यते यत्रसनिष्पत्तिः विधेयम् अर्थात् कार्यमिति। स्वरूपकार्यस्य कारणत्वेनविभावानुभावव्यभिचारिसयोगमेवाङ्गीक्रियत इति। अत्र संयोगपदस्य व्याख्यानत्वेन एवरसविषयकाःसर्वेऽपि वादाः जागरिता, अपि च संयोगपदं साकांक्षतया निर्विवादेनस्थायिनंग्राहयति, तेनस्थायिसंयोगात् रसनिष्पत्तिरिति निर्गलितोऽर्थः। **''द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदंप्रत्येकमभिसम्बध्दयते''**[7] तेन हि प्रत्येकं विभावसंयोगात्, अनुभावसंयोगात्, व्यभिचारिसंयोगात्, रसनिष्पत्तिरिति गृह्यते। एवं विधप्रतिपादनेन ज्ञायते यत् रसकार्यमेव, परञ्च इत्येतत् स्वरूपं तु तस्य रसस्यअलौकिकत्वसिद्धौ दोषः अतो विदुषां मतं यत् **''सच न कार्यः विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तुविभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्वदृष्टमिति चेत? नक्वचिद्दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेः भूषणं न तु दूषणमचवर्णा निष्पत्या तस्यनिष्पतिरूपचेतितिकार्योऽप्युच्यताम्।**[8]

सामान्यविषयअभिनवगुप्तप्रतिपादनरीत्या, परञ्च अनेन निश्चितमेव वर्तते यत् रसरूपकार्यस्यनिष्पादने विभावादयः कारणानिएव वर्तन्ते। इत्येतद् पूर्व यत् भणितंकविना तस्मिन् तु विभावादेः**निमित्तकारण**[9] तया विचारोऽभवत्, परञ्चयदि तर्क पुरस्सरविचारो भवति चेत् तदा विभावादेः रसस्य**समवायि**[10]- **असमवायि कारणेऽन्तर्भावः।**[11]

रसगंगाधरस्य प्रथमाननेऽपि रसस्यकारणतया विचारोऽभवत्।

यत्र प्रकरणस्य स्पष्टार्थकतया द्रुततरं प्रतीयमानैर्विभावादिभिः सहृदयानामतिशीघ्रं रसपदवीमासादयतांरत्यादीनां प्रतीतिर्जायते, तत्र वाच्यव्यंग्यप्रतीत्योः कार्यकारणभावेन कल्पितस्याऽपि पूर्वापरीभावरूपस्यक्रमस्याशुभावितया सम्यक् लक्षयितुमशक्यत्वेनासंलक्ष्यक्रमत्वम्[12] अतएवसामान्यकार्य कारणात् विलक्षणमिदम्।

येन प्रकारेण वायुगोलकेत्येतस्य विकसनकाले वायुइत्यस्य प्रवाहो यथा स्यात्तथैव तस्यविकसनकार्यमपि स्यात्, यदा वायुप्रवाहः नश्यति तदा विकसनकार्यमपि नश्यति। सामान्येन वायुः सर्वत्रैव परञ्च विकासकार्य न लभते, तथैव रसेऽपि, यद्यपि विभावादयः सर्वत्रैव अवलोक्यन्ते, परञ्चरसरूपकार्यस्योत्पत्तिः सर्वत्र नैव भवति। यदाविभावादेः संयोगः जायतेतदैव रसोत्पत्तिः भवति। अस्तु। यद् ''कारणनाशाद् कार्यनाशः'' इत्यस्य नियमस्य प्रवृत्तिस्तु निमित्तकारणविषये न, अपितु समवायिअसमायिकारणविषये एव। यथा च रसरूपकार्यस्य समवायिकारणं वर्तन्ते विभावादयः, तथाचासमवायिकारणं विभावादेः संयोग इति अनेनानयोः द्वयोः नाशात्कार्यमपि नश्यते। न तुनिमित्तकारणनाशे कार्यनाशः इति अतः सामान्यरूपेण प्रकृतस्थाने सत्कार्यवादस्य सिद्धिः जायते, यथामृत्तिकातःतद् तद् विशेषरीत्या क्रियाव्यवस्थापनानन्तरं घटोत्पत्तिः लभते, एवञ्च तदुत्तरकाले कुम्भकारस्यपरलोकगमनेऽपि घटस्यास्तितत्त्वमवलोक्यते, एवमेव रसविषये प्रतिपदं न दृश्यते यतोहि विभावादिभिरेवरसस्याभिव्यक्तिरभिव्यज्यते, पुनश्च विभावापदिरतेऽपि रसस्योपलब्धिः मनसि न चर्यते। **विभावादिजीवितावधीः**[13] अत्र पुष्टमिदं विभावादयः रसस्य समयायिकारणानिएव। न तु निमित्तमिति अत्रसामान्यतया। सत्कार्यवादस्य चर्चापुरस्सरं रससिद्धान्ते तस्य स्थितिमवलोक्य स्थाप्यते।

यथा–

असदकारणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच सहकार्यम्।।[14]

असदकरणादितिइइ लोके सदेवसद्भवति असतः करणं नास्ति यदि स्यात्तदाविभावादिभ्यः रसः न तु अलंकारादिभ्यः। इह लोकेऽसत्करणं नास्ति यथाशशविषाणादीनाम्। यदेव सद् घटादिद्रव्यं तदेवं मृत्पिण्डादिना कारणविशेषेण क्रियते नासत्।

उपादानग्रहणात्–इह लोके यो यस्यार्थी स तदुपादानग्रहणं करोति। तद्यथा रसार्थी विभावादेःउपादानं करोति। इह यदरथं यदुपादीयते तस्य तदुपादानं कारणम् यथा तैलस्य तिलाः, दध्नः, क्षीरम्।

सर्वसम्भवाभावात्–इह लोके यस्मिन् यद्विद्यते तस्मादेव तदुत्पत्तिर्लभते, यथा रसः विभावदित एवउत्पद्यते। यदसत्कार्य भवेत् तदा सर्वस्य सर्वदा सर्वत्र सम्भवः स्यात्। न चैवम् तस्मात् सदेव कार्यम्।

शक्तस्यशक्यकरणात्– इहलोके शक्तःशिल्पीकरणादिकारणोपादानकालोपायसम्पन्नः भुत्वा शक्यं कर्मआरभते, न शक्यमशक्यात्तद्यथा शक्यः विभावादयः रसः दृष्टः, न च अलङ्कारादि अशक्यत्वात्तावतापदार्थेन शक्तं कारणं नाशक्तमित्येव। शक्तस्य को भवितुर्महति यः शक्तिमान्, तस्य शक्तिमतश्शक्यस्यकरणात्।

कारणभावाच्चकार्य सदेव स्यात्। इहलोके यल्लक्षणं कारणं तल्लक्षणं कार्यस्यात्यथाविभावादिभ्यः रसः। यदि चासत्कार्य स्यात्, तदा विभावादिभ्यः अलंकारः समुत्पद्यन्ते, स च नभवति। इत्यनेन प्रमाणितं यत् रसः सत्कार्यमेव कारणस्य सत्वादित्यर्थः। यद्यसत्कार्यमुत्पद्यते तदाकेनापि प्रकारेण रसोत्पद्यते।

निष्कर्षः

सामान्येनेदं कथयामि यत् सत्कार्यवाददृष्ट्या रसस्य कार्यकारणरूपत्वेन स्थितिमवलोक्यते तथा च अस्य स्वीकार्यनकोपिदोषः दरीदृश्यते सत्कार्यवादस्य सिद्धेयान्यपि कारणानि प्रदत्तानि तानि सर्वाण्यपि रसस्यतथारूपेण परिपोषयति तथा चसत्कार्यवादस्यसिद्धिरेवास्य पत्रस्य प्रमुखप्रयोजनमिति। अस्मिन् शोधपत्रेसामान्येनविश्लेषणात्मकं शोधोपकरणस्य प्रयोगंकृतं एवं चप्रसंगानुसारंयथामति समालोचनपद्धत्याः प्रयोगमपि विहितमिति। सामान्यतया रसविषये बहूनिशोधकार्याणि शोधपत्राणि च अवलोक्यन्ते, परञ्चसत्कार्यवाददृशष्ट्या कमपिविषयं न अवलोकितं मयेतिइदमेवोररीकृत्य प्रस्तूयते पत्रमिदमिति।

***प्राध्यापक**
संस्कृत एवं प्राच्यविद्याध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नवदेहली–110067
****शोधार्थी**
संस्कृत एवं प्राच्यविद्याध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नवदेहली–110067

सन्दर्भग्रन्थसूची

संदर्भ सूची

1. नाट्यशास्त्र 6/31
2. तैत्तिरीयोपनिषद्/ब्रह्मानन्दवल्ली/सप्तमोनुवाकः
3. काव्यप्रकाश 4/111
4. काव्यप्रकाश 4/102
5. काव्यप्रकाश 4/107
6. काव्यप्रकाश 4/108
7. सिद्धांतकौमुदी/कारकप्रकरण 1/1
8. काव्यप्रकाश 4/110
9. तदुभयभिन्नंकारणंनिमित्तकारणम्। यथातुरीयवेमादिकंपटस्य, तर्कसंग्रह, प्रत्यक्षखंड, पृष्ठ 37
10. यत्समवेतंकार्यमुत्पद्यतेतत्समवायिकारणम्। यथातन्तव:पटस्य, तर्कसंग्रह, प्रत्यक्षखंड, पृष्ठ 36
11. कार्येणकारणेनवासहैकस्मिन्नर्थेसमवेतंयत्कारणम् असमवायिकारणम्। यथातन्तुसंयोग:पटस्य।
12. रसगंगाधार 1/47
13. काव्यप्रकाश 4/108
14. सांख्यकारिका 9

संदर्भग्रंथसूची

1. काव्यप्रकाशः, वामनी सहितः (मम्मटः झल्लकीकरः), परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली –2012
2. काव्यप्रकाश मम्मटः, सम्पादकः – निवाररानी, साहित्य भार : मेरठ – 1960
3. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), पी वी काणे, मोतीलाल बनारसी दास : दिल्ली–1994
4. रसगङ्गाधरः (मदनमोहकालनिवासतहिन्दी व्यायासहित), पं. जगन्नाथः, रसगङ्गाधरः (बदरीनामाकृतसंस्कृत–व्याख्या मनमोहनझावृतहिन्दीव्याख्यासहित) पण्डितराज जगन्नाथः , चौखम्बा विद्याभवन : वाराणसी , 1955
5. ईशादि नौ उपनिषद्। (शांकरभाष्यसहित), गीताप्रेस गोरखपुर, गोरखपुर, 2011
6. तर्कभाषा (तर्करहस्यदीपिकाहिंदीव्याख्या विभूषिता) मिश्रकेशवः, चौखम्बा संस्कृत सीरिज
7. नाट्यशास्त्रम्। (अभिनवभारतीसमन्वितम्), भरतः, गायकवाड़ओरियंटल सीरिज गुजरात, 1954
8. साहित्यदर्पणः, सत्यव्रत सिंह, विश्वनाथ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी – 2002
9. सांख्यकारिका, सं. सुधांशु कुमार, वाराणसीः चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2011
10. सांख्यतत्वकौमुदी, सं. ज्वालाप्रसाद गौड़, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2004

शोध-पत्र

भूमंडलीकरण के दौर में स्त्री की छवि

अमन कुमार

सारांश

इस शोध-पत्र का उद्देश्य इस तथ्य का पता लगाना है कि भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी साहित्य में स्त्री की छवि क्या रही। साथ ही, भूमंडलीकरण के दौर में स्त्रियों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा तथा साहित्यकारों ने स्त्री को अपनी रचनाओं में दिखाया उनके किन-किन पक्षों एवं समस्याओं को समाज के सामने रखने का प्रयास किया यह भी दिखाने का प्रयास रहेगा।

ये दुनिया स्त्रियों के लिए उतनी न्यायवादी नहीं रही जितनी पुरुषों के लिए। ऐसे में बदलते समाज में स्त्रियों की स्थिति और उनकी छवि आज किस रूप में विद्यमान है, इस बात की तहकीकात करना जरूरी हो जाता है; खासकर तब जब आज हम इक्कीसवीं सदी के तीसरे दशक में पहुँच चुके हैं। शोध-पत्र में उपर्युक्त सभी पहलुओं को सामने रखने का प्रयास के साथ-साथ आधुनिक होते भारत की प्रगति के समानंतर स्त्रियों स्थिति और उनके योगदान को दिखाने का प्रयास किया गया है।

भूमिका

समकालीन समाज विमर्शों के जिस दौर से गुजर रहा है उसमें प्रत्येक वस्तु को उसके स्थान से हटाने की पुरजोर कोशिशें जारी हैं। यह समाज तात्कालिक नहीं है अपितु कालावधि के चक्र में है, जिसकी अलग-अलग तरीके से पहचान की जा रही है। धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक जीवन, संचार माध्यमों का बढ़ता वर्चस्व, मशीनीकरण की सभ्यता और बाजार की नई परिभाषा लगातार व्यक्ति की पहचान के लिए एक प्रश्नचिन्ह बनकर खड़ी हो रही है। ऐसे परिवेश में व्यक्ति के 'स्व' यानी व्यक्ति के 'स्वार्थ' की बात उठना जरूरी-सा लगता है जिसने पहचान की राजनीति को जन्म दिया। आज कोई समृद्ध विचारधारा का अस्तित्व नहीं है, आज प्रत्येक व्यक्ति का नजरिया खंडित हो गया। वह स्वयं पर केंद्रित होकर ही सोचता है कि इससे मेरा क्या लाभ होगा? आज कोई भी संपूर्ण समाज को साथ ले के चलने की बात नहीं करता, वह दौड़ना चाहता है, सबसे तेज दौड़ना चाहता है। जैसे यह जीवन कोई रेस हो जिसमें पहले स्थान पर आने वाले व्यक्ति को सब कुछ दे दिया जाएगा। साहित्य की तमाम विधाओं-कविता, कहानी, उपन्यास और निबंध लेखन में स्त्री, दलित एवं आदिवासी ऐसे ही विमर्श हैं जिन पर बात किया जाना स्वाभाविक लगता है।

भूमंडलीकरण और स्त्री

आज हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श की जो चर्चा की जाती है वह केवल स्त्री-विषय तक ही सीमित नहीं है बल्कि आधी दुनिया का अस्तित्व, उसकी अस्मिता, उसका भविष्य एवं उसके सरोकार इससे जुड़े हैं। देखा जाए तो लगभग प्रत्येक समाज में ऐसा हुआ है कि स्त्री को घरेलू जीवन, बच्चों के पालन-पोषण, रसोईघर एवं समूचे परिवार की देखभाल का जिम्मा सौंप दिया गया था या यूं कहें कि मानसिक तौर पर थोप दिया गया है जबकि पुरुष का संबंध बाह्य जगत, सार्वजनिक क्षेत्रों, राजनीतिक, धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, उत्पादन के साधनों, बौद्धिक, रचनात्मक कार्यों से हो गया। इस प्रकार श्रम का भी पितृक ढंग से मनचाहा विभाजन हुआ। साथ ही, तय कर दिया गया कि स्त्री की समाज में क्या भूमिका है और पुरुष की क्या? समकालीन कविता में स्त्री के इसी शोषण का इतिहास

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

दर्ज है। सभ्यता के आदिकाल से ही स्त्री का शोषण होता आया है।

अरुण देव लिखते हैं-

''स्त्री के बालों से डरती है सभ्यता
उसकी हँसी से
उसकी देह की बनावट से
उसके होने भर से थरथराने लगती है सभ्यता
अर्थात उसकी पीठ है जख्मों से अँटी।''

देखा जाए तो इतिहास में स्त्री की जो दशा रही उसके लिए पित्तृसत्तात्मक समाज ही जिम्मेदार है और इतिहास ने स्त्री को यही दिया है। स्त्री के समाज निर्माण योगदान को किस तरह से महत्त्वहीन बनाया गया है और 'स्त्री को तो यह करना ही होता है' जैसे मुहावरे में गढ़कर समाज में उसकी उपयोगिता को ही खत्म करने की पुरजोर कोशिश रही है।

आज के इस उत्तर-आधुनिक परिवेश में जहां 'वैश्विकता' की भावना अपना वर्चस्व स्थापित करती मुक्ति आख्यान के अंत की घोषणा करती है। ऐसे में यदि कविता में भूमंडलीय चिताओं के साथ अपने समाज की तीखी सच्चाइयां जगह न पाएं तो क्या हमारा काव्य चिंतन कलावादी श्रेणी में नहीं रह जाएगा। कल के इसी घेरे को तोड़कर जीवन के नाभिनाल से जुड़ी है समकालीन कविता जहां वह बाजार के आतंक से जूझ कर कह उठती है-

''मैं अपने साथ
ले जाना चाहता हूं
अगले सदी में-बस
मिट्टी की सौंधाई गंध
आदमी का पसीना
और उसकी उम्मीद।'' (नई सदी)

इस निर्भावूक समय में जिन चीजों के लिए समाज में कोई जगह नहीं है। कवयित्री की सदिच्छा है कि आगे आने वाली सदी फिर से मानवीय मूल्यों को लौटा लिए। यहां स्त्री की मानवीयता को भी देखा जा सकता है कि वह किस तरह से समस्त समाज के बारे में सोच रही है।

आज के इस उत्तर-आधुनिक युग में जबकि किसी भी प्रकार की संपूर्णता का विचार नहीं ठहरता, ऐसे में कविता को भी उसकी संपूर्णता में देखना बेमानी होगा। लेकिन आज का युवा कवि-मन जानता है विकेंद्रीकरण का महत्त्व तभी तो जीवन के छोटे-छोटे केंद्रों को कवि अपनी कविताओं में समेटता चलता है। समकालीन रचनाकार के लिए रचना आसपास के दैनिक जीवन में, जीवन की छोटी से छोटी घटना, छोटी से छोटी गति में बसी है। यह वैश्वीकृत समाज के इस सच से बखूबी वाकिफ है-

''बाजार थी दुनिया
वे उसमें खरीददार थे
वे हर शै पर लेबल लगाते थे
हर चीज के दाम लगाते थे।'' (शोक गीतिका)

पेटेंट करने की जो प्रक्रिया 'ग्लोबलाइजड' दुनिया में चली है वहां स्त्री-देह को भी पेटेंट किया जा रहा है। आज भूमंडलीकरण के विश्व-बाजार में स्त्री का भरपूर यौन-शोषण किया जा रहा है वह भी उसकी मुक्ति के नाम पर।

''सुनने में आया है कि
बड़े-बड़े डील में
लगे संगी-साथी और
सबल एवं समर्थ असुरों के लिए सुंदर अप्सराओं
एवं ऋषि-बालाओं की सप्लाई को इंद्र ने एक नये व्यवसाय के रूप में विकसित कर लिया है।''

(पूरबी बनईज का गीत)

भूमंडलीकरण की इस प्रक्रिया ने जीवन की जिस उन्मुक्तता पर प्रहार कर उसे कुंठित बना दिया है और जिस जीवन-शैली को जन्म दिया है उसमें केवल 'अलगाव' की स्थिति रह गई है। व्यक्ति एक-दूसरे की भावनाओं से अलग 'स्व' में केंद्रित हो चुका है, ऐसे में संबंधों में आया अलगाव भी स्पष्टतः दृष्टिगत होता है-

''बाजार ने
सुखा दिया है
हमारी सारी संवेदनाओं का सोता
और, और की चाह से ग्रसित हैं लोग
याद आता है
ऐसे में
गालिब का शेर
'आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसा होना'।''

(बाजार-1)

आज की परिस्थितियों ने स्त्री-अस्मिता को जिस संकट के घेरे में डाल दिया है वहां वह 'वस्तु' रूप में परिणत हो चुकी है-

''ये वे लोग हैं जो खींचते हैं

हमारी नंगी-अधनंगी तस्वीरें
और संस्कृति के नाम पर
करते हमारी मिट्टी का सौदा
उतार रहे हैं बहस में हमारे ही कपड़े।''

(ये वे लोग हैं जो)

यानी स्त्री सिर्फ बाजार की शोभा बनने भर के लिए है। कहा जा रहा है कि 'विश्व ग्राम' की अवधारणा ने स्त्री को मुक्त किया है, यह सही है, लेकिन कहां मुक्त किया है? मुख्य सवाल यह है-

''जहां जितनी ज्यादा मुद्रा वहां उतना ही नीला कंठ
निकलता है जब हुजूम रैम्प पर कन्याओं का
कंधों पर सवार उनके अर्थतंत्र बजाता है बांसुरी।''

-(अर्थतंत्र की बांसुरी) यानी स्त्री का इस्तेमाल वर्गों के हिसाब से होता है।

''किसी अन्य उपभोक्ता वस्तु के बाजार की तरह औरतों के बाजार की स्थिति भी है। यानी 'बेहतर वस्तु' ऊंचे किस्म के लोगों के लिए। इस तरह दोनों वर्ग के लोगों को संतुष्ट, लेकिन अलग-अलग रखा जा सकता है।'' अब यह कैसी विडंबना है स्त्री की। स्त्री की मुक्ति की आकांक्षा को उस वर्ग द्वारा समाप्त किया जा रहा है जो 'विश्व ग्राम' की अवधारणा को व्यवहार के स्तर पर लाने की बात करता है। इसमें शामिल है वह स्त्री-समुदाय जो उच्च वर्ग है या उच्च वर्ग में सम्मिलित होने की आकांक्षा रखता है।

''लोग समझते थे कि वे बिकती थीं
लेकिन कच्ची उम्र में ही वे विनिमय करती थीं
......
वे तरह-तरह की चीजों की तरह थीं
......
बल्कि अपने से भी मूल्यवान चीजों को ढोने वाली
सस्ती चीजों की तरह थीं।''

(वे चन्द्रशेखरियां किशोरियां)

बाजार ने स्त्री के शरीर पर से ही नहीं, उसकी चेतना, उसके मन पर से भी वस्त्र उतारे हैं। एक सीमा तक स्त्री परतंत्रता की जड़ माने जाने वाली पर्दा-प्रथा को भी तार-तार किया है। लज्जा-संकोच के बंधनों के वर्चस्व से भी उसे बाहर निकाला है लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि बाजार समाज-सुधारक है। यह सब उसने अपने हित के लिए किया है, अब स्त्री पहले से अधिक सर्वसुलभ हुई है।

''बाजार से सटे
झोपड़-पट्टियों की ये बच्चियां बिकाऊ हैं भाई जी
भूखी और दुखी हैं तो क्या
कपड़े साबुत नहीं हैं तो क्या
इनके पास
अपने जिन्दा शरीर तो हैं
ये शरीर सस्ते हैं भाई जी।''

(बच्चियां: कुछ दृश्य)

कहा जा सकता है कि वैश्विक स्तर के बाजार और स्थानिक बाजार की वर्तमान मुक्तावस्था साम्राज्यवाद की वह सिद्धावस्था है, जब पूंजी सामाजिक रूप से कमजोर वर्गों समुदायों और स्त्री-समुदाय के सस्ते श्रम को निचोड़ने के साथ ही स्त्री की मुक्त देह का शिकार कर रहा है। भूमंडलीकरण के इस युग की कैसी द्वंद्वात्मकता है जो इस नई अर्थव्यवस्था में स्त्री-श्रम का उपयोग तो अपने हितों में करता है पर उनकी बढ़ती हुई समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करना उनका अभिप्राय नहीं है। आज महिला-सशक्तिकरण के नाम पर वैश्विकता के परिदृश्य ने औरतों को पहले से भी अधिक निर्ममतापूर्वक बिकाऊ माल में बदल कर उसका वस्तुकरण कर दिया है। उसके इस वस्तुकरण का इस्तेमाल केवल परिवार या समाज ही नहीं कर रहा बल्कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी स्त्री-देह और उसकी यौनिकता का व्यापार किया जा रहा है।

''न्यूयार्क के स्टॉक-एक्सचेंज के सामने की
सड़क पर एक औरत
गाते हुए, नाचते हुए
अपनी छातियां हिला रही है
नितंब उघाड़कर दिखा रही है।''

(कालयात्री की कविता)

अर्थात् विश्व-व्यापार में स्त्री-देह का भरपूर इस्तेमाल किया जा रहा है। ऐसे में स्त्री-मुक्ति की सभी प्रकार की संकल्पनाएं निरर्थक सिद्ध होती हैं और भूमंडलीकरण के इस नवसाम्राज्यवादी रूप को प्रचारित-प्रसारित करने में जिसने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, वह है संचार-माध्यम और नई टेक्नोलॉजी।

इसके अतिरिक्त मीडिया में जिस स्त्री-छवि को रखा जा रहा है वह सिर्फ 'हाई-सोसाइटी वुमेन' है। प्रभा खेतान लिखती हैं-''एक विशिष्ट वर्ग की स्त्री केवल अपने ही

वर्ग को संबोधित कर पाएगी। मीडिया को ध्यान रखना होगा कि जिस पारंपरिक छवि को वह प्रस्तुत कर रहा है वह सिर्फ बाजार के एक कोने को ही घेरेगा, समूचे बाजार को नहीं। बाजार के स्वार्थ में है कि एक स्त्री की भिन्नताओं और बहुलतावादी पहचान को संबोधित करे। मीडिया ने पारंपरिक ढांचे के भीतर स्त्री की जिस छवि को गढ़ा है वह द्वित्व आधारित है-(यानि गोरी-काली, स्त्री-पुरुष, अमीर-गरीब, निजी और सार्वजनिक) और किसी भी प्रस्तुति का द्वित्व आधारित विभाजनों में सीमित रहना अपने-आप में समस्यामूलक है।'' समकालीन कविता में बाजार और मीडिया के इस गठजोड़ के सच को सामने लाया गया है और स्त्री के इस द्वित्व को समाप्त करने का प्रयास किया गया है। बाजार की यह नीति रही है कि वह विभिन्नताओं को विभेदीकृत करता है और उनके बीच की वर्गीय खाई को छुपाने का प्रयास करता है लेकिन समकालीन कविता इन्हीं अर्थों में समकालीन है कि वहां 'अनेकता में एकता' है न कि नई टेक्नोलॉजी के छाया-चित्रों की तरह सिर्फ स्त्री-मुक्ति का भ्रम।

निष्कर्ष

कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण के दौर में किस प्रकार स्त्री को सामने रखकर बड़े स्तर पर व्यापार किया जा रहा है। उसके योगदान से जहाँ प्रचार-प्रसार किया जा रहा है, वहीं उसे कम वेतन दिया जाता है तथा उसका शारीरिक शोषण को किसी से छिपा नहीं है। बाजार ने सभी लोगों में प्रतियोगिता बढ़ा दी है, जिसका असर स्त्री के व्यक्तिगत जीवन में भी देखने को मिलता है। उसकी छवि आज मात्र विज्ञापनों में नुमायशों के लिए रह गई है।

पीएच-डी (हिंदी), हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : 23aman11@gmail.com

संदर्भ सूची

1. 'क्या तो समय', अरुण देव, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004, पृ. 17
2. 'किसी नवजात सुबह का इंतजार', कविता भाटिया, सार्थक प्रकाशन, गौतम नगर, दिल्ली, संस्करण-2008 पृ.19, पृ. 17
3. 'अकेली औरतों के घर', मधु बी. जोशी, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2005, पृ. 95
4. 'शब्दपदीयम्', बद्रीनारायण, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2004, पृ. 41
5. 'अंतिम पंक्ति में', नीलेश रघुवंशी, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2008, पृ. 91, पृ. 133
6. 'बाजार के बीच, बाजार के खिलाफ', प्रभा खेतान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1974, पृ. 133
7. 'दु:स्वप्न भी आते हैं', अष्टभुजा शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004, पृ. 112-114
8. 'खिलाड़ी दोस्त तथा अन्य कविताएं', हरेप्रकाश उपाध्याय, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2001, पृ. 83
9. 'कुछ जीवंत : कुछ ज्वलंत', कात्यायनी, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण-2005, पृ. 50
10. 'इस पौरुषपूर्ण समय में', कात्यायनी, वाणी प्रकाशन, संस्करण-1999, पृ. 23
11. 'उद्धृत (लेख : स्त्री और मीडिया, प्रभा खेतान), पूर्वग्रह : संपादन, प्रभाकर श्रोत्रिय, अंक-124, जनवरी-फरवरी-2009, पृ. 59

डॉ. श्रुति रंजना मिश्रा

रामचरितमानस के राम का संवाद कौशल

आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण से लेकर संस्कृत, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में सतत प्रवाहित रामकाव्यों के साहित्यिक प्रभाव में भारतीय जनमानस ने कभी पुनरुक्ति का अनुभव नहीं किया। राम के जीवन से संबंधित प्रत्येक नूतन रचना भारत की आत्मा को नया उत्साह और नया आलोक प्रदान करती रही है।

सामयिक समस्याओं के समाधान, शाश्वत आदर्शों की प्रतिष्ठा या नैतिक मूल्यों के स्थायित्व की प्रेरणा हेतु ही साहित्य में चरित्र ग्रहण होता है। प्रत्येक युग की विशिष्ट परिस्थितियाँ एवं विशिष्ट समस्यायें होती हैं। उनका समाधान भी युग के आदर्श और नैतिक मान्यताओं के आधार पर किया जाता है। इसीलिए समस्याओं और निराकरण के स्वरूप में युग के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। एक ही चरित्र यदि भिन्न-भिन्न युगों की समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करें, उनके जीवनादर्शों को ग्रहण करने में प्रेरणा प्रदान करें, प्रत्येक युग में वह अनुकरणीय बना रहे तो निश्चय ही वह चरित्र विलक्षण माना जाएगा। राम का चरित्र ऐसी ही विलक्षणता से समन्वित है। राम का चरित्र पुरातनकाल से ही साहित्यकारों, धार्मिक चिंतकों-दार्शनिकों और समाज निर्माताओं की प्रेरणा, श्रद्धा, चिन्तन और आदर्श का केंद्र बना रहा, जबकि युग बदलते रहे और युगों के साथ मानव आदर्श एवं मान्यताओं में परिवर्तन आते रहे। राम के चरित्र में वह कौन सा वैशिष्ट्य है, जो प्रत्येक युग और प्रत्येक देश की प्रत्येक समस्या का समाधान अपने में समाहित किए रहता है। यह चरित्र हमेशा समाज को पूर्णता का आभास देता है। राम को जितना पढ़ते हैं, जितना जानते और गुनते हैं, वह उतना ही और पढ़ने, जानने और गुनने की ओर प्रेरित करता है।

चिंतन का स्तर पार करता हुआ मन जब राम नाम पर अनुरक्त होता है तो प्रतीत होने लगता है कि राम के चरित्र की भाँति राम नाम भी भारतीय लोक जीवन में समाहित है। उनके अलग-अलग रूप की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राम और भारत मानो एक दूसरे के पर्याय हैं। यदि राम का चरित्र भारतीय संस्कृति, मर्यादा, परंपराओं, मान्यताओं, नैतिकता, जीवनादर्शों और शक्ति का मूर्तिमान प्रतीक है, तो राम का नाम शिष्टाचार, दुख, सुख, आश्चर्य, आस्था, श्रद्धा आदि भावों का स्वाभाविक अभिव्यंजक बन गया है। सगुणोपासक तुलसी विश्व को सियाराममय समझकर प्रणाम करते हैं। वे कहते हैं 'सियाराममय सब जग जानीय करहु प्रणाम जोरी जुग पानी' तो निराकार साधक कबीर के लिए राम 'पिउ' हैं। रसिक भक्त राम की शृंगारिक चेष्टाओं पर रीझते हैं तो महात्मा गांधी की प्रेरणा का आधार भी 'रघुपति राघव राजाराम' है। इतनी व्यापकता एवं लोकप्रियता विश्व के किसी अन्य नाम को प्राप्त नहीं हो सकी। राम का पावन चरित्र समय के साथ अटल स्तंभ की भाँति विराजमान है। राम भारत के आदर्श हैं। राम परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लिए सदैव जागरूक हैं वे आदर्श महामानव हैं। राम राजा होकर भी सभी के साथ उदार व्यवहार रखते हैं। राम दृढ़ इच्छा शक्ति के प्रतीक हैं और संभाषण में इतने मृदु की शत्रु भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। उनके यही गुण उन्हें देवत्व की कोटि तक पहुँचा देते हैं। राम एक मर्यादापालक पुत्र, आदर्श भाई, निष्ठावान पति, उदार पिता और आदर्श शासक हैं।

जब हम किसी शासक के श्रेष्ठ स्वरूप या आदर्श

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

राज्य व्यवस्था की कल्पना करते हैं तो अनेक प्रतापी शासकों की शासन व्यवस्था प्रत्यक्ष हो जाती है, जिनके राज्य में प्रजा संतुष्ट, संपन्न, सुरक्षित तथा सतत प्रसन्न थी लेकिन सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था का वह चरम स्वरूप कौन सा है जो श्रेष्ठतम व्यवस्था के एक पग आगे खड़ा दिखाई पड़ता है और श्रेष्ठ शासकों का भी मार्गदर्शन करने में समर्थ है। इस प्रश्न का एक ही उत्तर है 'राम-राज्य'।

राम-राज्य से बढ़कर कोई व्यवस्था अभी तक विश्व के किसी भी तंत्र द्वारा प्रस्तुत नहीं की जा सकी है। यह राम-राज्य क्या है जिसका विकल्प अभी तक खोजा नहीं जा सका। इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें स्वयं राम के जीवन का आंतरिक अनुशीलन करना होगा।

राम के शासकीय जीवन का प्रारंभ तब होता है जब पिता दशरथ अपनी वृद्धावस्था और राम के अलौकिक पराक्रम तथा प्रजा के प्रति उनका प्रेम, संवाद कौशल, समरसता तथा समाज में उनकी स्वीकार्यता को देखकर गुरु वशिष्ठ की सहमति और सचिवों के परामर्श से राम के राज्याभिषेक की घोषणा करते हैं। राम को राजा के रूप में देखने के लिए संपूर्ण समाज आकुलता के साथ प्रतीक्षा कर रहा है तभी राम की विमाता कैकेयी के हठ पर पिता दशरथ को विवश होकर राम को चौदह वर्ष का वनवास देना पड़ता है। राम का रामत्व यहीं से प्रारंभ होता है। जब राम को राज्याभिषेक का संदेश मिलता है तब उनके मन में राज्य प्राप्ति के उल्लास के स्थान पर प्रश्न उठता है कि जब चार भाइयों का जन्म एक साथ हुआ, एक साथ खेलना, रहना हुआ तब राजतिलक बड़े भाई का क्यों? जिस राज्य प्राप्ति के लिए परिवार तक से शत्रुवत व्यवहार के उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं, राम उस राज्य के प्रति उदासीन हैं। इतना ही नहीं कैकेयी के द्वारा उनके लिये जो चौदह वर्ष का वनवास माँगा गया है उसमें उन्हें संतुष्टि दिखाई देती है। इसमें उन्हें सबका हित दिखाई देता है। उनकी दृष्टि में राज्य का अर्थ सिंहासन पर बैठकर विशेष अधिकार के साथ शासन करना नहीं अपितु सर्व समाज में समरस हो जाना है तभी तो माता कौशल्या से वनगमन की अनुमति लेते समय यह नहीं कहा कि पिता मुझे वन भेज रहे हैं। वह कहते हैं कि पिता ने मुझे वन का राज्य दिया है। यह मर्यादा पुरुषोत्तम राम की संवाद कौशलता है कि वह माता कौशल्या के मन में पिता दशरथ और विमाता कैकेयी के प्रति कोई नकारात्मक भाव नहीं लाना चाहते।

पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू।
जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।
आयसु देहि मुदित मन माता।
जेहिं मुद मंगल कानन जाता।

वन गमन के समय राम ने शासन की संपूर्ण समस्या के साथ परिवार की भी चिंता करते हुए गुरु वशिष्ठ से निवेदन करते हैं-

दासीं दास बोलाइ बहोरी।
गुरहि सौंपि बोले कर जोरी।
सब कै सार सँभार गोसाईं।
करबि जनक जननी की नाईं।।

यह राम की संवाद कौशलता ही थी कि उन्होंने अयोध्या की प्रजा को अपने स्नेह भरे वचनों से सिंचित कर उन्हें अपने साथ ना आने के लिए मना लिया। इसके आगे राम का वन जीवन राम-राज की पृष्ठभूमि तैयार करता है। राम ने माता कौशल्या से कहा था कि पिता ने मुझे कानन का राज्य दिया है जहां मेरे करने के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य हैं। यहाँ हम राम वन्य जीवन के विशेष संवाद प्रसंगों के माध्यम से उनके उस वैशिष्ठ का दर्शन करने का प्रयास करेंगे जो व्यवहार में सामान्य से दिखने पर भी व्यक्ति को देवत्व की कोटि तक ले जाता है। राम के जीवन के अनेक ऐसे प्रसंग हैं जहां राम का संवाद कौशल, उनकी संप्रेषणीयता दिखायी देती है।

निषादराज एवं केवट प्रसंग

राम अपने लघु भ्राता लक्ष्मण तथा पत्नी सीता के साथ श्रृंगवेरपुर पहुचते हैं। निषादराज ने जब यह सुना तो वह अपने बंधु-बांधवों के साथ भेंट स्वरूप फल-मूल आदि लेकर श्रद्धा भाव से राम से मिलकर दण्डवत प्रणाम करते हैं। राम सहज स्नेह पूर्ण भाव से उनसे मिलते हैं, उनकी कुशल पूछते हैं और निषादराज को अपने निकट ही बिठा लेते हैं। राम का यह व्यवहार निषादराज को अभिभूत कर देता है। वह कहते हैं-

नाथ कुसल पद पंकज देखें।
भयउँ भागभाजन जन लेखें।।

वह राम को अपने आवास पर रहने के लिए आमंत्रित करते हैं लेकिन राम उनके प्रस्ताव को बहुत ही स्नेह के साथ अस्वीकार कर देते हैं और कहते हैं-

कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना।
मोहि दीन्ह पितु आयसु आना।।

और इस तरह से राम अपने कुशल संवाद से पिता की आज्ञा का मान भी रखते हैं और मित्र निषादराज को संकुचित होने से भी बचाते हैं। राम निषादराज को अपनी विवशता बताते हुए कहते हैं कि वह चौदह वर्ष मुनिव्रत तथा आहार रहित ग्रामवास दूर रहेंगे। निषादराज दुखी होते हैं, विवश होकर अशोक के वृक्ष के नीचे उनके आवास की व्यवस्था करते हैं। राम को आवास दिखाते हुए निषादराज को संकोच है पर राम उनके इस संकोच को दूर करते हुए कहते हैं–

लै रघुनाथहि ठाउँ देखावा।
कहेउ राम सब भाँति सुहावा।

बिछौना के रूप में कुश की सांथरी है। रत्न जड़ित पलंग पर लेटने वाले राम वृक्ष की छाया में कुश के कटीले बिछौने पर संतुष्ट हैं। निषादराज और उसके परिजन–पुरजन व्यथित हैं, व्याकुल है पर वे विवश हैं। सभी राम की सरलता–सहजता से और उनके संवाद से एकाकार हो जाते हैं।

सुचि सुबिचित्र सुभोगमय सुमन सुगंध सुबास।
पलँग मंजु मनि दीप जहँ सब बिधि सकल सुपास॥

निषादराज द्वारा राम के प्रति समर्पण का एक प्रसंग तब आता है जब राम श्रृंगवेरपुर से आगे जाने की बात कहकर उसे वापस जाने का आग्रह करते हैं। निषादराज की स्थिति का वर्णन करते हुए तुलसी कहते हैं–

तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू।
सुनत सूख मुखु भा उर दाहू॥

निषादराज राम से आग्रह करते हैं कि आपको आगे का मार्ग नहीं ज्ञात है। मैं कुछ दिन आपके साथ रहकर तथा जहां आप अपना आवास निश्चित करेंगे वहाँ आपके लिये पर्णकुटी का निर्माण कर पुनः आप जैसी आज्ञा देंगे वैसा करूँगा। उसके सहज स्नेह में राम को उसे साथ लेने के लिये विवश कर दिया। समाज के उपेक्षित व्यक्ति को भी राम अपने व्यवहार से और संवाद कुशलता से अपना बना लेते हैं अथवा वह सदैव के लिए उनका हो जाता है। यह एक आदर्श शासक के लिए अनुकरणीय उदाहरण है–

दीन बचन गुह कह कर जोरी।
बिनय सुनहु रघुकुलमनि मोरी॥
नाथ साथ रहि पंथु देखाई।
करि दिन चारि चरन सेवकाई॥

राम–केवट संवाद

रामचरित मानस के केवट प्रसंग में भी राम का सहज संवाद कौशल परिलक्षित होता है। राम को गंगा के पार जाना है, वे केवट को बुलाते हैं। तुलसी ने यहाँ एक विनोदप्रिय प्रसंग का समावेश किया है। केवट–राम, लक्ष्मण और सीता के चरण धोकर अपने को पवित्र करना चाहता है पर वह इसके लिये विनय नहीं करता वह राम के समक्ष एक शर्त रखता है। वह कहता है कि मैं चरण इसलिए धोना चाहता हूँ क्योंकि मुझे ज्ञात है कि आपके चरणों की रज से एक शिला स्त्री के रूप में परिवर्तित हो गई थी। मैं नहीं चाहता कि मेरी काठ की नाव भी स्त्री बन जाये क्योंकि मैं इसी को चलाकर अपने परिवार का पालन पोषण करता हूँ। इसलिए मैं आपके चरणों को धोना चाहता हूँ।

एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू।
नहिं जानउँ कछु अउर कबारू॥
जौ प्रभु पार अवसि गा चहहू।
मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

इसी के साथ वह कहता है नाव मेरी जीविका का साधन है इसलिए यदि आप गंगा जी को पार करना चाहते हैं तो पैर धोने की अनुमति देनी ही होगी। राम उसके प्रेम से भरे हुए वचनों को सुनकर मुस्कुराते हैं और उसके आंतरिक प्रेम का अनुभव करते हैं और केवट को सहजता से उत्तर देते हुए कहते हैं वही करो जिससे तुम्हारी नाव को हानि ना हो।

सुनि केवट के बैन, प्रेम लेपेटे अटपटे।
विहँसे करुणा-ऐन, चितहि जानकी लखन तन॥
जासु नाम सुमिरत एक बारा।
उतरहिं नर भवसिंधु अपारा।
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा।
जेहिं जगु किय तिहु पगहु ते थोरा॥

राम की अनुमति मिलते ही वह पैर धोने के लिए कठौता मंगाता है और राम के पैरों का प्रच्छालन करता है तथा परिवार सहित उस जल का पान करता है। इस प्रसंग में राम और केवट का संवाद यह संदेश देता है कि राम सर्वसमाज में कितने लोकप्रिय हैं और कितनी सहजता से संभाषण करते हैं।

यद्यपि राम अयोध्या के राजा हैं लेकिन उन्हें यह संकोच है कि मैंने केवट का पारिश्रमिक नहीं दिया, वह

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

सीता जी की मुद्रिका केवट को देना चाहते हैं पर केवट का कहना है कि मैंने इतने दिन जो श्रम किया है उसका वास्तविक पारिश्रमिक आज राम, सीता और लक्ष्मण को अपनी नाव से नदी पार कराकर प्राप्त हुआ है।

राम अपने भक्तों को आत्मीयता और सहज प्रेम देते हैं। केवट राम के प्रेम में इतना अभिभूत हैं कि वह आज ही नहीं भविष्य के लिए भी राम से मिलने का वचन प्राप्त करना चाहता है।

फिरती बार मोहि जो देबा।
सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा।।

आदर्श नायक एवं शासक के रूप में यह राम की सरलता है कि वह साधारण समाज के लिए भी सुलभ है और सभी को उनसे संभाषण और स्नेह का अधिकार है।

राम-जटायु संवाद

रामचरितमानस के जटायु प्रसंग में जब रावण छल से सीता जी का अपहरण कर लेता है, विवश सीता जी राम का स्मरण कर चीत्कार करती हैं। जटायु ने सीता जी को पहचाना और यह भी देखा कि रावण उनका अपहरण करके आकाश मार्ग से ले जा रहा है। जटायु राम का भक्त है, वह रावण को चेतावनी देता है कि राम का विरोध तुम्हारे कुल के विनाश का कारण बनेगा। जब रावण कोई उत्तर नहीं देता तो जटायु उस पर आक्रमण कर सीता को मुक्त करा लेता है किंतु रावण ने उसके पंख कृपाण से काट कर उसे पंगु कर दिया और सीता को पुनः यान पर बिठाकर ले गया। राम सीता को कुटी में ना पाकर व्याकुल होते हैं। राम और लक्ष्मण सीता की खोज में वन-वन भटकते हैं। राम इतने संवेदनशील हैं कि वह पशु-पक्षी ही नहीं लता-वृक्षों से भी सीता का पता पूछते हैं–

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम्ह देखी सीता मृगनैनी।।

इससे संकेत मिलता है कि राम का न्याय, उनकी भावात्मक अनुभूति, उनका संवाद समस्त सृष्टि में फैला हुआ था। वे प्रकृति से भी सीधे संवाद करते करने की क्षमता रखते हैं। सीता की खोज करते हुए ही उन्हें जटायु घायल अवस्था में मिलते हैं।

पूरनकाम राम सुख रासी।
मनुज चरित कर अज अबिनासी।।
आगे परा गीधपति देखा।
सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा।।

राम अपनी पीड़ा भूल कर उसके उपचार में लग जाते हैं। जटायु ही राम को बताते हैं कि सीता जी को रावण दक्षिण दिशा में ले गया है। मेरे प्रतिरोध करने पर उसने ही मेरी यह गति की है। राम के नेत्रों में अश्रु आ जाते हैं। उनके ही समक्ष जटायु अपने प्राण त्यागते हैं।

यह राम ही हैं जो स्वयं के दुख से ऊपर भी मानवता की चिंता करते हैं। वह अपने कष्ट को पीछे कर दूसरे के कष्ट निवारण में लग जाते हैं। उनका यही भाव उन्हें सभी का बना देता है। जटायु तो पक्षी था पर राम की करुणा का विस्तार वहाँ तक भी है। इसीलिए प्राणांत के समय राम उसे जीवन दान देने को तत्पर होते हैं तो जटायु अस्वीकार कर देता है और कहता है कि प्राणांत के समय जिसे राम प्रत्यक्ष दर्शन दे रहे हों उसके लिए इस मृत्यु से बढ़कर कोई जीवन नहीं हो सकता।

राम-शबरी संवाद

राम सीता की खोज में आगे बढ़ते हुए जाते हैं, जहां वह शबरी से मिलते हैं। शबरी राम के रूप को देखकर मंत्र मुग्ध हो जाती हैं। राम का सौंदर्य, सहजता, सौम्यता और प्रेम से भरे हुए वचनों को सुनकर वह इतनी लीन हो जाती हैं कि उन्हें अपनी सुध-बुध भी नहीं रहती। राम के स्वागत में उनके मुख से शब्द ही नहीं निकल रहे। वह राम के चरणों में लिपट जाती हैं। लंबी प्रतीक्षा के बाद उनकी अभिलाषा पूर्ण हो रही थी। उनके गुरु मतंग ऋषि ने उनको बताया था कि अवध के राजकुमार राम तुम्हारी कुटिया में आयेंगे। वह तब से नित्य प्रतीक्षा करती थीं। आज उसका स्वप्न साकार हो रहा था। शबरी ने राम के चरण धोये, आसान दिया और अपने हाथ से चुने हुए मीठे फल खाने को दिये। यह राम की आत्मीयता है कि वह उन जूठे फलों को प्रेमभाव से खाते हैं और फलों के स्वाद की प्रशंसा भी करते हैं। राम की सेवा करके संतुष्ट होने पर शबरी कातर भाव से कहती है कि वह निर्धन है, समाज में उपेक्षित है और राम एक प्रतिष्ठित राज्य के शासक हैं। आपने आज मेरी कुटिया पर आकर मुझे धन्य कर दिया है। शबरी के प्रेम और उनके संकोच को देख राम कहते हैं कि राम का एक ही नाता है और वह प्रेम का है। जाति, कुल, धर्म, धन, परिवार मेरे लिये कोई महत्व नहीं रखते। राम का संकेत है कि जब सिंहासन नंगे पैर चलकर समाज के अंतिम छोर पर खड़े व्यक्ति के दरवाजे जाकर अपने आत्मीय भाव और व्यवहार से संतुष्ट

करता है तब राम राज्य आता है। राम ने शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश दिया और कहा कि राम के लिए जनजाति की शबरी उतनी प्रिय और महत्वपूर्ण है जितना कोई अन्य व्यक्ति।

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥
जोगि बृंद दुरलभ गति जोई।
तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥

राम यहाँ ऊँच-नीच और जाति के भेद को स्पष्ट रूप से नकारते हैं तथा यह व्यक्त करते हैं कि पुरुष की भाँति नारी भी उनके लिये पूज्य है।

राम-हनुमान संवाद

हनुमान राम के अनन्य भक्त हैं। हनुमान जब लंका में जाकर सीता का पता लगाकर उनके कुशल की सूचना राम को देते हैं, प्रभु राम उनको प्रसन्नता से गले लगते हैं। राम हनुमान से सीता का हाल पूछते हैं और साथ ही हनुमान ने लंका कैसे जलायी ये भी जानना चाहते हैं। राम हनुमान को गले लगाते हैं और उनका हाथ पड़कर अपने निकट बैठते हैं। इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि राम के लिए भक्त और उनमें कोई दूरी नहीं है।

कपि उठाई प्रभु हृदय लगावा।
कर गहि परम निकट बैठावा॥
कहु कपि रावन पालित लंका।
केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥

राम-विभीषण संवाद

रामचरितमानस में राम और विभीषण के संवाद में राम का विभीषण के प्रति स्नेह और विभीषण के भक्त रूप के दर्शन होते हैं। विभीषण जानते हैं कि राम मानव रूप में ईश्वर ही हैं। वह रावण को समझाते हैं लेकिन रावण के ना मानने पर वह लंका छोड़कर राम की शरण जाने का निश्चय करते हैं। प्रभु राम को जब ज्ञात होता है कि रावण का भाई उनसे मिलने के लिए आया है। सुग्रीव के द्वारा यह कहने पर कि इसमें कोई माया होगी अथवा वह हमारा भेद लेने के लिए आया है। राम कहते हैं कि मेरा धर्म तो शरण में आये हुए की रक्षा करना है। राम कहते हैं कि जिनका मन स्वच्छ, निर्मल है वही मुझे पा सकते हैं क्योंकि कपट, छल वाले लोग तो मुझे भाते ही नहीं हैं।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

यह राम का प्रेमपूर्ण संभाषण ही है कि शत्रु पक्ष के लोग भी राम के रामत्व में एकाकार हो जाते हैं। राम का चरित्र उज्ज्वल आदर्श का प्रतीक है तथा उनका सामाजिक जीवन भी प्रेरणा दायक है वह अपने शत्रु और मित्र दोनों के अंतर्मन में अपने आचरण और अपने संभाषण से प्रतिष्ठित हैं। यह उनका संवाद कौशल ही है कि पशु-पक्षी, शिला, लता, पुष्प, वनवासी समाज, सुग्रीव, जामवन्त, जटायु, शबरी, अंगद, हनुमान, नल-नील, समुद्र, विभीषण, आदि उनमें एकाकार हो जाते हैं।

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
पी.जी.डी.ए.वी. महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

संदर्भ सूची

1. रामचरितमानस अयोध्याकाण्ड
2. रामचरितमानस अरण्यकाण्ड
3. रामचरितमानस सुंदरकांड
4. मानस की रामकथा
5. मानस दर्शन डॉ. कृष्ण लाल

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में गाँधी के राष्ट्रवाद की प्रासंगिकता

दुर्गेश नंदिनी*   डॉ. सुधा निकेतन रंजनी**

शोध सार -

राष्ट्रवाद एक अमूर्त अवधारणा है और अमूर्त अवधारणाओं की व्याख्या एक दुष्कर कार्य है। कई विद्वानों ने इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है परंतु कोई एक सुस्पष्ट परिभाषा निश्चित नहीं हो पाई है। समय के साथ-साथ इसकी परिभाषा में बदलाव होते रहे हैं। स्वतंत्रता आंदोलन के समय हमने राष्ट्रवाद का जो स्वरूप देखा था आज उस स्वरूप में विकृति आ गई है। जिस राष्ट्रवाद को हथियार बनाकर हमने अपनी एकजुटता का प्रदर्शन करते हुए अंग्रेजों को बाहर का रास्ता दिखाया था, आज उसी राष्ट्रवाद के नाम पर विद्वेष फैलाया जा रहा है। वर्तमान में राष्ट्रवाद एक ज्वलंत मुद्दा है और इसे संकीर्ण परिभाषा के दायरे में बांधने का प्रयास किया जा रहा है। ऐसे में महात्मा गाँधी और उनके राष्ट्र-संबंधी विचार को पुनः पढ़ने और समझने की आवश्यकता है। उन्होंने राष्ट्रवाद के व्यापक अर्थ को स्वीकार करते हुए उसकी व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के बुनियाद के रूप में की है। वे भारतीय राष्ट्रवाद को संकीर्णता के दायरे से निकालकर वैश्विक बंधुत्व को बढ़ाने वाली विचारधारा के रूप में देखते थे। आज राष्ट्रवाद को इसी व्यापक अर्थ में समझने की आवश्यकता है। इस आलेख में उनके राष्ट्रवाद सम्बंधी विचारों का विश्लेषण किया गया है। यह कार्य द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। द्वितीयक स्रोतों के रूप में पुस्तकों, पत्रिकाओं, शोध-ग्रंथों और ऑनलाइन माध्यम का इस्तेमाल किया गया है।

मुख्य शब्द - राष्ट्रवाद, संस्कृति, सभ्यता, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, विश्वबंधुत्व।

भूमिका -

मन, वचन एवं कर्म की शुद्धता पर बल देने वाले कर्मयोगी महात्मा गाँधी का जन्म 2 अक्तूबर 1869 को पोरबंदर, गुजरात में हुआ था। दक्षिण अफ्रीका उनकी प्रथम कर्मभूमि रही, वहाँ 21 वर्ष रहने और नस्लवादी नीति के खिलाफ अहिंसक लड़ाई लड़ने व वहाँ के अश्वेत लोगों को उनके हितों के प्रति जागरूक करने के बाद वे 9 जनवरी 1915 को भारत लौट आये। लौटने के बाद उन्होंने भारत की एकता को सुदृढ़ करने की दिशा में कार्य किया, जनता को आत्मनिर्भर बनने का संदेश दिया एवं भारत की आजादी को अपना लक्ष्य बनाने का आह्वान किया। गाँधी स्वतंत्रता आंदोलन के पुरोधा नेता थे। उनकी राष्ट्र की कल्पना समन्वयवाद पर आधारित थी। राष्ट्र से संबंधित उनका दृष्टिकोण व्यापक था। उनका मानना था कि एक राष्ट्र के रूप में हमारा अस्तित्व अंग्रेजों के आने के बाद निर्मित नहीं हुआ अपितु जब अंग्रेज नहीं थे तब भी हम एक राष्ट्र थे, हमारा रहन-सहन एक जैसा था, हमारे विचार एक जैसे थे। वे राष्ट्र को प्राचीन सभ्यता से जोड़कर देखते थे। उनका मानना था कि परतंत्र भारत को स्वतंत्र बनाने के लिए सभी वर्ग के लोगों को साथ लाने की आवश्यकता है। साथ लाने के लिए साझे इतिहास, संस्कृति और मातृभूमि के साथ जुड़ाव की भावना ने राष्ट्रवाद की भावना को पुष्ट किया। सभी वर्ग के लोगों ने गाँधी का अनुसरण किया एवं स्वतंत्रता संग्राम में अपना योगदान दिया। स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय भागीदारी एवं अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने की भावना जगाने में राष्ट्रवाद ने अपनी भूमिका निभाई।

पश्चिम बौद्धिक प्रभाव के कारण कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाएँ रूढ़ अर्थों में ही समझी जाती हैं। राष्ट्रवाद की अवधारणा के साथ भी यही समस्या है। अक्सर भारत के राष्ट्रवाद और यूरोप के राष्ट्रवाद को एक ही तरह का राष्ट्रवाद माना जाता है परंतु भारत का राष्ट्रवाद यूरोप के राष्ट्रवाद से भिन्न था। यूरोप का राष्ट्रवाद औद्योगिक क्रांति की मांग और उसके बाद उत्पन्न आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों के दबाव में उपजा। जबकि भारत में यह उपनिवेशवाद के गर्भ से उपजे साम्राज्यवाद के विरोध में आया। प्रारंभ में इसका उद्देश्य साम्राज्यवाद के विरोध में एकजुट करने वाली विचारधारा के रूप में था। कालांतर में इसकी भूमिका उन्माद फैलाने वाली विचारधारा के रूप में अधिक स्पष्ट होने लगी। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि आरंभ में जिस राष्ट्रवाद ने लोगों को वैचारिक स्तर पर जोड़ने का काम किया वही राष्ट्रवाद आंदोलन के अंत में विभेद और वैमनस्य का कारण बना। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रवाद जब चरम मूल्य बन जाता है तब खतरा बढ़ने लगता है। गाँधी ऐसे राष्ट्रवाद के समर्थक नहीं थे जिसका आधार हिंसा हो। वे उस राष्ट्रवाद को सच्चा राष्ट्रवाद मानते थे जो मानवता की रक्षा करता हो। उनके अनुसार राष्ट्रवाद को संकीर्ण और स्वार्थपरक भावना से मुक्त होना चाहिए। घृणा और उन्माद पर टिके राष्ट्रवाद का परिणाम सभी के लिए अहितकारी होता है। उन्होंने सदैव शांतिप्रिय और सहिष्णु राष्ट्रवाद का समर्थन किया है। सत्याग्रह और अहिंसात्मक प्रतिरोध सदैव उनके राष्ट्रवाद के मूल में थे।

'यंग इंडिया' में राष्ट्रवाद के संबंध में गाँधी जी ने लिखा था कि ''मेरा राष्ट्रवाद मेरे स्वदेशी जितना ही व्यापक है। मैं भारत का उत्थान चाहता हूँ ताकि पूरी दुनिया को लाभ हो। मैं नहीं चाहता कि भारत दूसरे देशों के विनाश पर आगे बढ़े।'' उनका लक्ष्य केवल भारत को स्वतंत्र कराना या भारतीयों के बीच भाईचारे की स्थापना नहीं था अपितु भारत की आजादी हासिल करने के जरिए सम्पूर्ण मानवता के बीच भाईचारे के लक्ष्य को प्राप्त करना था। उनकी दृष्टि में राष्ट्रभक्ति कोई एकांतिक वस्तु नहीं है। यह सर्वसमावेशी है और उस राष्ट्र-भक्ति को नकार देना उचित है जो अन्य राष्ट्रीयताओं के दुख और शोषण का कारण बने। राष्ट्र और राष्ट्रवाद की कसौटी के रूप में वे मानव और मानवता को ही रखते हैं। वे ऐसे किसी राष्ट्रवाद को खारिज करते हैं जिसमें 'वाद' मजबूत हो और राष्ट्र कमजोर पड़ जाए।

जब गाँधी जी राष्ट्र की बात करते हैं तो उनका मानना है कि राष्ट्र एक दिन में नहीं बनता अपितु कई वर्षों के संघर्षों का परिणाम है राष्ट्र। राष्ट्र किसी धर्म से नहीं, संस्कृति से बनता है। विविधताओं के बावजूद राष्ट्र के लोगों को एक करने वाली विचारधारा ही राष्ट्रवाद है। गाँधी का राष्ट्रवाद सदैव सामूहिकता का आग्रही रहा है। एकता के बल को उन्होंने बखूबी समझा और उपयोग किया। उन्होंने एकत्व के महत्व व जरूरत को लोगों को समझाया। इस एकत्व की भावना को राष्ट्रवाद कहा गया। उनका मानना था कि लोकतंत्र और हिंसा कभी एक साथ नहीं चल सकते। उनके राष्ट्रवाद में संकीर्णता, जातीय श्रेष्ठता अथवा एकाकीपन का भाव नहीं था। गाँधी के लिए राष्ट्रवाद का अर्थ स्वशासन है जिसमें राष्ट्र के प्रत्येक वर्ग के लोगों की भागीदारी सुनिश्चित की जाए। उनके अनुसार राष्ट्रवाद के प्रति उनका प्रेम या राष्ट्रवाद के बारे में उनका विचार यह है कि देश स्वतंत्र हो जाए ताकि अगर आवश्यकता पड़े तो मानवजाति के अस्तित्व की रक्षा के लिए प्राण भी दे सकें। इस धारणा में जातीय घृणा के लिए कोई जगह नहीं है। यही हम सभी का राष्ट्रवाद होना चाहिए।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में गाँधी और उनके राष्ट्र-संबंधी विचार को पुनः स्मरण करने और इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि राष्ट्र और राष्ट्रवाद पिछले दशक से काफी चर्चा में है। इसके नाम पर कई ऐसी घटनाएँ हो रही हैं जो राष्ट्र और राष्ट्रवाद की एक नई परिभाषा गढ़ते प्रतीत होते हैं। राष्ट्रवाद के नाम पर वैमन्स्यता, दंगे-फसाद, मार-पीट जैसी घटनाएं समाचार पत्रों और इंटरनेट माध्यमों से हम तक पहुँचती रहती हैं। राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद की वर्तमान अवधारणा भारतीय राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद की वास्तविक अवधारणा के विपरीत प्रतीत होती है। राष्ट्र का स्वरूप केवल भौगोलिक नहीं होता है अपितु यह भूभाग के साथ-साथ जनसमूह तथा संस्कृति से भी जुड़ा होता है। भारत की राष्ट्र के रूप में वास्तविक अवधारणा में विविधता में एकता या सर्व धर्म समभाव का भाव निहित है परंतु राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद की वर्तमान अवधारणा नस्लीय, क्षेत्रीय, धार्मिक, भाषाई और सांप्रदायिक एकरूपता को नष्ट करने वाली तथा आपसी विद्वेष को

बढ़ाने वाली है। इससे विविधता को खतरा है। यह 'वसुधैव कुटुंबकम' की भावना से दूर ले जाने वाली अवधारणा के रूप में अपना विस्तार कर रही है। 'वसुधैव कुटुंबकम' की भावना भारतीय संस्कृति का परिचायक है जिसका प्रसार करना ही सच्चा राष्ट्रवाद है।

राष्ट्रवाद एक 'वाद' के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी में उभरा और यह पश्चिम की देन है। जैसे-जैसे इसका प्रसार होता गया वैसे-वैसे देशकाल, वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार इसके स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया। भारत में राष्ट्रवाद का उदय साम्राज्यवाद के विरोध में हुआ, साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद से उपजा था। उन्नीसवीं सदी में उभरे इस राष्ट्रवाद का उद्देश्य था साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के समय राष्ट्रीय चेतना जागृत करना और स्वाधीन राष्ट्र के निर्माण की ओर अग्रसर होना। परंतु बीसवीं सदी तक आते-आते यही राष्ट्रवाद युद्धोन्माद उत्पन्न करने वाले प्रमुख कारक के रूप में अपनी भूमिका स्पष्ट करने लगता है। यह सत्य है कि इस अवधारणा ने राष्ट्र के प्रति निष्ठा जगाई परंतु इस सत्य को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता कि इसने विद्वेषों को भी जागृत करने का काम किया। इसने जनता को आपस में जोड़ने का काम किया साथ ही जनता को विभाजित करने में भी इसकी भूमिका रही। वर्तमान में इसका कार्य विरोध, कटुता और युद्धपिपासी राज्यों की क्षुधातृप्ति रह गया है। इसके नाम पर सामाजिक सवालों को दबाया जाता है तथा सामाजिक यथार्थ से मुंह मोड़ा जाता है।

मूलतः दो प्रकार के राष्ट्रवाद बहुप्रचलित हैं—नृजातीय राष्ट्रवाद, जिसे हम सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भी कहते हैं तथा नागरिक राष्ट्रवाद। नृजातीय राष्ट्रवाद नस्लीय एकता पर आधारित होता है और आनुवंशिक रिश्तों को अधिक महत्व देता है। इसकी प्रकृति अपवर्जी होती है। इसके विपरीत नागरिक राष्ट्रवाद नागरिक एकता और उनके अधिकारों पर आधारित होता है। यह नागरिकों के साझे सांस्कृतिक मूल्य को महत्व देता है तथा विभिन्न उत्पत्तियों वाले लोगों को एक-दूसरे के साथ सद्भावनापूर्ण तरीके से रहने के अवसर प्रदान करता है। यह समावेशी प्रकृति का राष्ट्रवाद है। इसके बरक्श अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की भी बात होती रहती है। अंतर्राष्ट्रीयतावाद राष्ट्र और लोगों के बीच अधिकाधिक राजनीतिक और आर्थिक सहयोग है। सामाजिक संरचनाओं का अन्तर्राष्ट्रीयकरण भी अंतर्राष्ट्रीयतावाद है। आर्थिक वैश्वीकरण, राजनीतिक प्रक्रियाओं और संस्कृति का अन्तर्राष्ट्रीयकरण अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को बढ़ाता है। यह सभी राष्ट्रों को एकसूत्र में बांधने वाली, एकीकृत करनेवाली विचारधारा है। गाँधी, टैगोर, नेहरू आदि सभी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का समर्थन करते हैं।

राष्ट्रवाद अपने सामान्य रूप में संकीर्ण विचारधारा को द्योतीत करता है। राष्ट्रवाद का उद्देश्य राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को हर प्रकार के शोषण से मुक्त करना होना चाहिए। परंतु हम पाते हैं कि इसका प्रयोग राजनेता अपनी राजनीति साधने के लिए करते हैं। इसकी आड़ में कई जरूरी सामाजिक-राजनीतिक सवालों और मुद्दों को छिपाया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि राष्ट्रीय स्तर पर औपनिवेशिक शासन से मुक्ति के लिए राष्ट्रवाद सामाजिक एकता का हथियार था परंतु उसी के मध्य इसका उपयोग सामाजिक अंतर्विरोधों से पलायन के लिए किया जा रहा था। राष्ट्रवाद लोगों में आदर्श भावनाएँ उत्पन्न तो करता है जिससे शक्ति बढ़ जाती है लेकिन साथ ही खतरे भी बढ़ जाते हैं। राष्ट्र सर्वोपरि के नाम पर लोग नैतिकता और मानवता से दूर होते जाते हैं। गाँधी का राष्ट्रवाद मानवता की वकालत करता है। उनका राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं था, बल्कि इसमें सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता भी शामिल थी। गांधी जी का राष्ट्रवाद सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों पर आधारित था। उन्होंने हिंसा के विरोध में अहिंसक आंदोलन का नेतृत्व किया और यह सुनिश्चित किया कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का हर कदम अहिंसा के सिद्धांतों पर आधारित हो। गांधीजी के राष्ट्रवाद का मुख्य उद्देश्य स्वराज था, जिसका अर्थ आत्म-शासन और आत्मनिर्भरता था। उन्होंने अपनी मौलिक रचना 'हिन्द स्वराज' में इस पर विस्तार से विचार किया है। उनका मानना था कि भारत को स्वराज तभी प्राप्त होगा जब प्रत्येक भारतीय आत्मनिर्भर और आत्मसंतोषी बनेगा। गांधी जी के राष्ट्रवाद में सामाजिक सुधार का महत्वपूर्ण स्थान था। उन्होंने छुआछूत, जातिवाद और अन्य सामाजिक बुराइयों का विरोध किया। गांधी जी का मानना था कि सामाजिक समानता और न्याय के बिना सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त नहीं की जा सकती। गांधी जी का राष्ट्रवाद सभी धर्मों के प्रति सम्मान और सद्भाव पर आधारित था। वे हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे और मानते थे कि भारत की विविधता उसकी शक्ति है।

गाँधी जी के अनुसार 'अनेकता में एकता' भारतीय सभ्यता का सबसे बड़ा गुण है। भारत की सभ्यता विभिन्न संस्कृतियों के मध्य एक समन्वयक के रूप में काम करती है। वे भारत को सदैव महान सभ्यता वाले देश के रूप में देखते थे। भारत की सभ्यता बहुआयामी और एकता की परिचायक है। सहिष्णु और मानवोचित गुणों से सम्पन्न राष्ट्र ही सकारात्मक विकास की ओर अग्रसर होता है। वे कभी कट्टरता के आग्रही नहीं रहे। उनकी विचारधारा में हिन्दू धर्म श्रेष्ठ धर्म है पर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के हिमायती वे नहीं थे। वर्गहीन और घृणा से मुक्त राष्ट्र उनकी महत्वाकांक्षा थी। धार्मिक घृणा को देश के लिए अभिशाप मानते थे। वे मानते थे कि किसी भी समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए व्यक्ति को अनुशासित और नैतिक गुणों से युक्त होना चाहिए। व्यक्ति में आत्मिक बल होना चाहिए। व्यक्ति का बल किसी के शोषण के लिए नहीं अपितु शोषण से मुक्ति के लिए होना चाहिए। वे देश में लोकतान्त्रिक व्यवस्था चाहते थे, एक ऐसी लोकतान्त्रिक व्यवस्था जहां सभी जाति, धर्म और वर्ग के लोग हों तथा किसी के पास किसी से कम राजनीतिक अधिकार ना हो। सभी के राजनीतिक अधिकार समान हो। राष्ट्र के संबंध में उनकी परिकल्पना ऐसी है कि जिसमें राष्ट्र का सबसे बड़ा गुण वह होगा कि वह आत्मान्वेषण कर अपने अंदर की गलतियों की पहचान कर उसे सुधारने की दिशा में सदैव प्रयासरत रहे। व्यक्ति राष्ट्र के अनिवार्य अंग हैं और प्रत्येक व्यक्ति की यह नैतिक जिम्मेदारी है कि वह आत्मान्वेषण करे और आध्यात्मिक उन्नति करे, इसी में राष्ट्र की उन्नति भी निहित है।

गांधी के राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद संबंधी विचारों पर चिंतन करने की आवश्यकता है। राष्ट्रवाद की व्याख्या वो भारतीय चिंतन परंपरा के अनुसार करते हैं जिसके मूल में आध्यात्मिक मूल्य है। आध्यात्मिक मूल्य से जुदा राष्ट्रवाद सम्प्रदायवाद और फासीवाद की स्थिति में देश को खड़ा करता है जहां से देश का नैतिक पतन शुरू हो जाता है। वे राष्ट्रवाद को साध्य बनाकर आपसी मतभेद को बढ़ाने के स्थान पर इसे विश्वबंधुत्व की आदर्श स्थिति तक पहुँचने का साधन बनाए जाने के पक्षधर थे। वे कहते हैं कि अपने परिवार का दायित्व निभाते हुए वैश्विक परिवार की ओर अग्रसर होना है। उनका मानना है कि राष्ट्रवाद बुराई नहीं है, राष्ट्रवाद के नाम पर जो पृथकवादिता और स्वार्थपरता चलती है वह देश की उन्नति में बाधक है। वे राष्ट्र और राष्ट्रवाद की संकीर्ण परिभाषा से परे जाकर उसे अंतर्राष्ट्रीयता से जोड़ते हैं। उनका कथन है कि एक सच्चा राष्ट्रवादी ही अंतरराष्ट्रीय हो सकता है। विशुद्ध राष्ट्रीयता अंतरराष्ट्रीयता के विकास में सहायक होती है। मानवतावादी राष्ट्रीयता वैश्विक शांति के लिए आवश्यक है। यही राष्ट्रीयता अंतर्राष्ट्रीयता और विश्वबंधुत्व के लिए आधार बनती ही। 'हरिजन' के एक अंक में वे लिखते हैं ''सार्वजनिक जीवन में 50 वर्ष व्यतीत करने के बाद मेरा इस सिद्धांत में विश्वास बढ़ गया है कि राष्ट्र की सेवा, विश्व की सेवा में कोई असंगति नहीं है।'' उनकी भारत-सेवा में मानवता की सेवा समाविष्ट है। उनका विश्वास इस बात में था कि देशसेवा और विश्वसेवा में कोई विरोध नहीं है। इस सिद्धांत को अंगीकार करने से राष्ट्रों के मध्य का तनाव और ईर्ष्या समाप्त होगी और भाईचारे की भावना का प्रसार होगा। वर्तमान समय में इस बात की निहायत आवश्यकता है कि हम अपनी संकुचित स्वार्थ की सीमाओं से ऊपर उठे और धर्म, जाति, संप्रदाय, भाषा आदि के नाम पर आपस में वैमनस्य ना पालें और आपसी एकता और भाईचारे की भावना को बनाए रखें।

अनुसंधान विधि-यह शोध आलेख द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। इस लेख के लिए उपयोग में लाए गए द्वितीयक स्रोतों में किताबें, पत्रिकाएं, शोध ग्रंथ और ऑनलाइन माध्यम से प्राप्त पुस्तकें व लेख शामिल हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि गाँधी का राष्ट्रवाद संबंधी विचार वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी प्रासंगिक है। संकुचित राष्ट्रवाद भारत की विविधता के लिए खतरा है। वर्तमान में धर्म, जाति, संप्रदाय, नस्ल, भाषा आदि के नाम पर विभाजन की राजनीति चल रही है और राष्ट्रवाद के नाम पर बुनियादी समस्याओं को नजरंदाज किया जा रहा है। राष्ट्रवाद के हिंसक और उग्र रूप को भी हमने विगत वर्षों में देखा है। राष्ट्रवाद जब चरम मूल्य बन जाता है तो सांस्कृतिक विविधता नष्ट होने की कगार तक पहुँच जाता है। ऐसे में गाँधी का राष्ट्रवाद, जो सबको साथ लेकर चलने वाला राष्ट्रवाद है, को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। उनका राष्ट्रवाद राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समृद्धि व समानता की वकालत करता है। धर्म, जाति, संप्रदाय आदि के नाम पर आपसी वैमनस्य को

त्याग, समाज के अंतिम व्यक्ति के उत्थान के लिए प्रयास करने को ही गाँधी सच्चा राष्ट्रवाद मानते थे। उनका राष्ट्रवाद किसी प्रकार के प्रतीक तथा उत्तेजना से दूर था। गाँधी समन्वयवादी राष्ट्र की कल्पना करते हैं। एक ऐसा राष्ट्र जहाँ हिंसा की संभावनाएँ न्यूनतम हो, जहाँ व्यक्ति के गौरव की रक्षा हो, जहाँ राष्ट्र एवं राष्ट्र के प्रतीकों के प्रति प्रत्येक के हृदय में सम्मान हो, जहाँ सर्वोदय की भावना का निवास हो, वही राष्ट्र वास्तव में उन्नति के शिखर को प्राप्त कर सकता है। तुच्छ कामनाओं एवं संकुचित स्वार्थ से घिरा हुआ राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकता। राष्ट्र और राष्ट्रवाद के संबंध में गाँधी का दृष्टिकोण व्यापक और नैतिक धारणा से युक्त था। गांधी का राष्ट्रवाद एक समग्र दृष्टिकोण था जो केवल राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रतीक था। उनका राष्ट्रवाद मानवता, सत्य, और अहिंसा के उच्चतम आदर्शों पर आधारित था। उनकी दृष्टि में राष्ट्र का विकास वास्तविक रूप से सभी वर्गों और समुदायों की समृद्धि और समानता के साथ होना चाहिए। उनका राष्ट्रवाद सामाजिक न्याय, विकास और शांति का आकांक्षी था। वैश्वीकरण के वर्तमान युग में अंतरराष्ट्रीय सहयोग और समरसता को बढ़ावा देने के लिए राष्ट्रवाद की व्यापक अवधारणा के प्रसार की आवश्यकता है। वैश्विक शांति और न्याय की स्थापना करना तथा 'वसुधैव कुटुंबकम' की भावना का प्रसार करना ही सच्चा राष्ट्रवाद है, जो गाँधी का भी राष्ट्रवाद है।

***शोधार्थी (हिन्दी विभाग)**
वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय
आरा-802301, बिहार
ईमेल–nandinidurgesh18@gmail.com

**** सहायक प्राध्यापक एवं शोध निर्देशिका**
म. म. महिला कॉलेज, आरा
वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा
ईमेल–snranjani@gmail.com

संदर्भ सूची

1. गाँधी, एम. हिन्द स्वराज, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2015
2. सिंह, डॉ. जयप्रकाश, भारतीय चिति और गाँधी चिंतन, राष्ट्रीय छात्रशक्ति, नई दिल्ली, 2020
3. रविकांत, आज के आईने में राष्ट्रवाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018
4. गाँधी, महात्मा, 'राष्ट्रभक्ति बनाम अंतरराष्ट्रीयता', 'राष्ट्रवाद, देशभक्ति और देशद्रोह' से अरुण कुमार त्रिपाठी, प्रदीप कुमार सिंह और रामकिशोर द्वारा संपादित, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, 2023
5. ताराचंद, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, खंड-1, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसार मंत्रालय, भारत सरकार, 2007
6. राजाराम, कल्पना. गाँधी, नेहरू, टैगोर एवं आधुनिक भारत के प्रसिद्ध व्यक्तित्व, स्पेक्ट्रम बुक्स, नई दिल्ली, 2022
7. चंद्रा, बिपिन, आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2000
8. यंग इंडिया, अंक-12, मार्च 1925
9. हरिजन पत्रिका, अंक-17, नवंबर 1933
10. https://www.mkgandhi.org/indiadreams/chap03-htm
11. https://www.inc-in/congress-sandesh/tribute/gandhi-and-nationalism

'महाभोज' उपन्यास : वर्तमान समाज का जीवंत दस्तावेज

सुलदीप कुमार* मोनोजित रॉय**

प्रस्तावनाः-

भारत एक लोकतांत्रिक देश है। इस देश की शासन व्यवस्था अनुमान से नहीं बल्कि संविधान से चलता है। संविधान सभी को समान अवसर प्रदान करता है। कोई आम व्यक्ति हो या विशिष्ट सभी के लिए संविधान में अपराध करने पर समान दंड मिलने का प्रावधान है। वर्तमान समाज में तमाम ऐसे जघन्य अपराध दिखाई देते हैं किंतु सजा उन्हें नहीं मिलती जो अपराध करता है बल्कि ज्यादातर सजा उन्हें मिलती है जो अपराध छुपाना नहीं जानता है। राजनीतिक पार्टियाँ अपने वोट बैंक को बचाने के लिए अपने पार्टी के बड़े से बड़े अपराधियों को संरक्षण देते नजर आते हैं। राष्ट्रीय स्तर की घटनाओं पर भी सत्ता पक्ष-विपक्ष केवल राजनीति करते हैं। दोषियों के प्रति सख्त कार्रवाई के बजाय वोट बैंक की राजनीति करते हैं ताकि सत्ता पक्ष की गरिमा बची रहे और विपक्ष भी घटनाओं को कम महत्व देती है; जितना वह सत्ता पक्ष को जनता के निगाह में नीचा दिखाकर गिराने का प्रयास करती है।

इस दृष्टि से मन्नू भंडारी का 'महाभोज' उपन्यास वर्तमान में काफी प्रासंगिक दिखाई पड़ता है। मन्नू भंडारी का रचना संसार हालांकि कहानी, नाटक तथा उपन्यास तक विस्तृत है, किंतु ख्याति कहानीकार के रूप में ही मिली। उपन्यास की परंपरा में राजनीतिक दृष्टि से उनका 'महाभोज' उपन्यास काफी चर्चित रहा है। इसमें उन्होंने नैतिकता, अंतर्विरोध तथा अन्तर्द्वंद्व से जूझते सत्ताधारी वर्ग, विपक्ष, पत्रकार और अवसरवादी चरित्रों पर व्यंग्य किया है। इसमें अपराध और राजनीति के साँठ-गाँठ को यथार्थवादी रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास के केंद्र में सरोहा गांव है जो शहर से बीस मील दूर स्थित है। यहाँ पर विधानसभा का चुनाव होने वाला है। इस क्षेत्रीय राजनीति के माध्यम से ही मन्नू भंडारी ने राष्ट्र में चल रही राजनीतिक व्यवस्था के ताने-बाने को बुना हैं। इसमें सत्ता पक्ष दा साहब (वर्तमान मुख्यमंत्री) और विपक्ष के रूप में सुकुल बाबू के माध्यम से राजनीतिक चरित्र का सूक्ष्म अंकन ने किया गया है। उपन्यास की शुरुआत बिसू (बिसेसर) की मृत्यु से होती है जो एक आम जनता को जगाने वाला मानवतावादी चरित्र है। उसका जुर्म केवल इतना है कि वह अन्याय के खिलाफ आवाज उठा रहा था। अपने और अपने समाज की हक की लड़ाई लड़ रहा था। मजदूरों को उनका हक और उचित मजदूरी दिलाने के लिए, संघर्ष करते-करते अपनी जान गवां बैठता है। दा साहब का संरक्षण प्राप्त जोरावर उसका हत्यारा है और यह बात सबको पता भी है कि हत्या जोरावर ने ही की है, पर उसे न्याय दिलाने की बजाय उसके मौत को चुनावी हथियार बनाकर सत्ता पक्ष-विपक्ष वोट बैंक की राजनीति करते हैं।

बीज शब्द-

राजनेता, चुनाव, पक्ष, विपक्ष, प्रमाण, मीडिया, सत्ताधारी, प्रशासन, हत्या, अपराध, न्याय, अन्याय, शोषण, प्रतिशोध, निंदा, मूल्य, उन्नति, प्रतिष्ठा, संवेदना, निर्दोष, योग्यता आदि।

शोध आलेख-

इस उपन्यास के दा साहब जो वर्तमान में मुख्यमंत्री हैं, जाटों की वजह से चुनाव जीते हैं। वे भी यह

भली-भाँति जानते हैं कि जोरावर ने ही बिसू (बिसेसर) की हत्या की है; पर वह चुप्पी साधे रहते हैं क्योंकि जाट भूधरों का लगभग पैंतालीस प्रतिशत वोट जोरावर के माध्यम से ही उन्हें मिल सकता है। दा साहब अपने को सच्चा देशभक्त मानते हैं। गाँधी और नेहरू को अपना पथ प्रदर्शक और अपनी प्रेरणा मानते हैं। गीता का उपदेश ही उनके जीवन का मूल मंत्र है। वे लखनसिंह से अपनी धर्मनीति की दुहाई देते हुए कहते हैं-''देखो भाई मेरे लिए राजनीति धर्मनीति से कम नहीं। इस राह पर मेरे साथ चलना है तो गीता का उपदेश गांठ बांध लो-निष्ठा से अपना कर्तव्य किये जाओ, बस। फल पर दृष्टि मत रखो।''[1]

वास्तव में उनकी धर्मनीति अपराधियों को बचाना और निरपराध को फँसाना है। जब लखनसिंह आकर दा साहब से बताता है कि सारा गाँव कहता है कि जोरावर ने ही बिसू की हत्या की है तो वह कानून की दुहाई देते हुए कहते हैं-''कानून अनुमान पर नहीं प्रमाण पर चलता है और पुलिस प्रमाण जुटा रही है। कानून के सामने मेरी और तुम्हारी हस्ती ही क्या है भला?''[2]

बिसू की मृत्यु पर लखनसिंह द्वारा जनता की प्रतिक्रिया को सुनकर दा साहब के मन में इस बार चुनाव हारने का आशंका बना हुआ है। जब लखन कहता प्रमाण जुट गए तो जोरावर को सजा जरूर मिलेगी। तब दा साहब कहते हैं-''वह तो सजा पाएगा अपने जुर्म की पर, उससे तो बड़ा सजा हम पाएंगे ... वह भी कोई जुर्म किए बिना।''[3]

वहीं सुकुल बाबू इस प्रांत के दस वर्षो तक मुख्यमंत्री रह चुके हैं। हारने के बाद भी उनका रुतबा है। दा साहब को इसका भय और बना हुआ है कि कहीं इस बार सुकुल बाबू चुनाव न जीत जाएं। उन्हें पता है कि असत्य पर टिकी हुई नींव ज्यादा दिन नहीं चल सकती। कभी भी चरमराकर गिर सकती है। दा साहब कहते भी हैं-''मेरा हारना चाहे अहमियत न रखता हो, सुकुल बाबू का जीतना जरूर है अहमियत रखता है। और इस बार पिछले चुनाव में खोए हुए हरिजनों के सारे वोट बड़ी आसानी से ले जाएंगे। सुकुल बाबू।''[4]

यह सब देखते हुए दा साहब अपनी ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा का झूठी दिखावट करते हैं। बिसू की मौत का पता लगाने के लिए वहाँ के सबसे ईमानदार एस.पी. सक्सेना की नियुक्ति करते हैं; क्योंकि सरोहा की जनता जानती है कि एस.पी. सक्सेना एक ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति है। वास्तव में दा साहब सक्सेना की नियुक्ति, बिसू की मौत का पता लगाने के लिए नहीं करते अपितु लोगों में अपनी जिंदादिली और नेक इंसान होने का परिचय देने के लिए करते हैं। जब लोग अच्छा समझेंगे तभी वोट देंगे। कोई अच्छा हो या न हो, अच्छा होने का सबूत देने के लिए अच्छा होना नहीं अच्छा दिखाना पड़ता है जो दा साहब भी कर रहे हैं। जब एस.पी. सक्सेना गाँव वालों और बिसू के पिता हीरा के बयानों से इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हत्या जोरावर ने ही की है तो उन्हें यह कहकर सस्पेंड कर दिया जाता है कि उनके बस की बात नहीं है बिसू के मौत का पता लगाना।

दा साहब सब जानते हैं यदि जोरावर बिसू के मौत का अपराधी साबित हो जाता है तो चुनाव हारना तय है। इसलिए वे एक भ्रष्ट डी.आई.जी. सिन्हा को इस केस के लिए नियुक्ति करते हैं। डी.आई.जी. सिन्हा दा साहब के अंगुलियों पर नाचने वाले उन अधिकारियों के प्रतीक हैं, जो पद लोलुपता के चक्कर में अपने पद की गरिमा और अपने कर्तव्यों का बलि चढ़ा देने के लिए तत्पर रहते हैं। सिन्हा साहब अपनी प्रारंभिक जांच में बिसू की हत्या को आत्महत्या साबित करते हैं। हत्या को आत्महत्या इसलिए साबित करते हैं ताकि जोरावर बच जाए और शायद दा साहब की कृपा से उनकी पदोन्नति भी हो जाए लेकिन जब देखते हैं कि बिंदा, बिसू को न्याय दिलाने के, सबूत जुटाने में काफी संघर्ष कर रहा है।

इस सबको देखते हुए डी.आई.जी. सिन्हा जिसे पहले आत्महत्या साबित किए थे, उसी को अब हत्या में तब्दील कर देते हैं और हत्या का अपराधी बिंदा (बिंदेश्वरी) को साबित कर देते हैं। इससे एक बात तो स्पष्ट हो जाता है कि सत्ताधारी लोगों के पास आम जनता के जीवन को तबाह करने के लिए हथकंडों की कमी नहीं है। दा साहब पर यह कहावत सही ही बैठती है-जिसकी लाठी उसकी भैंस।

इस प्रकार बिसू के हत्या के जुल्म में निरपराध बिंदा को सजा हो जाती है।

क्या यह लोकतंत्र की हत्या नहीं है?

क्या यह पदलोलुपता की वजह से आम जनता के अधिकारों का हनन नहीं है? क्या यह सत्ताधारी वर्ग के अपने शक्तियों का दुरुपयोग नहीं?

बिंदा का निर्दोष होने पर भी सजा मिलना कहीं ना

कहीं वर्तमान शासन व्यवस्था के काफी समीप दिखाई देता है। पदलोलुपता और अपनी उन्नति के लिए डी.आई.जी. सिन्हा जैसे लोग लोकतंत्र के लिए खतरा हैं। ऐसे लोग ही जो अपने कर्त्तव्यों की बलि चढ़ाकर लोकतंत्र के सामाजिक-राजनीतिक मूल्यों की हत्या कर रहे हैं। मीडिया भी कुछ इसी तरह खबर को हाइलाइट करती है जैसे दत्ता बाबू ने 'मशाल' के अंक में डी.आई.जी सिन्हा के प्रति आभार व्यक्त किया -

''मशाल के अंक में तीसरी प्रमुख खबर - दोस्ती की आड़ में बिसू की हत्या करने वाला बिंदा गिरफ्तार। फिर बड़े सनसनीखेज और रोचक ढंग से विस्तृत वर्णन दिया गया था कि किस प्रकार नये सिरे से बयान लेने और गहरी छानबीन करने पर कुछ ऐसे विस्मयकारी तथ्य सामने आए, जिन्होंने सारी घटना की दिशा बदल दी। डी. आई.जी. सिन्हा ने जिस सूझबूझ का प्रमाण दिया है। इस सारे मामले में उसकी भूरी-भूरी प्रशंसा थी। साथ ही एक छोटे से बॉक्स में बधाई देते हुए यह सूचना भी थी कि आई.जी. के रिक्त स्थान को डी.आई.जी. सिन्हा ने संभाल लिया है।''[5]

निर्दोष को सजा दिलाकर, पदोन्नति क्या यह सोचनीय नहीं है? आखिरकर हमारा देश किस दिशा में जा रहा है? अपराधी बाहर घूमे और निरपराध व्यक्ति सलाखों के बीच ...यह भी एक सवाल पैदा करता है आखिर कब तक ऐसा चलता रहेगा हमारे समाज में?

दा साहब घरेलू उद्योग योजना का उद्घाटन बिसू के पिता हीरा से करवाते हैं और गाँव वालों से कहते हैं। इस योजना को आप लोग सँभालें, आप लोग ही चलाएं। हीरा से उद्घाटन करवाते समय वह गाँव वालों के सामने बिसू के प्रति ऐसी गहरी संवेदना व्यक्त करते हैं; जैसे उसके मृत्यु का सर्वाधिक दु:ख दा साहब को ही है। वे बिसू के संबंध में कहते हैं-''गरीबों का हितैषी था बिसेसर, उसकी आत्मा को बड़ी शांति मिलेगी।''[6]

दा साहब के चरित्र को देखते हुए 'मुँह में राम बगल की में छुरी' वाली कहावत बिल्कुल सटीक बैठती है। वे अपने स्वार्थ के लिए भोली-भाली जनता को बेवकूफ बनाते हैं और जो उनके इस कूटनीति को समझ जाता है। उस पर ऐसा वज्र गिराते हैं। बेचारा कहीं का नहीं रह जाता है।

इस उपन्यास में लोचन भैया के माध्यम से लेखिका ने स्पष्ट संकेत दे दिया है कि सब भ्रष्ट और लालची नहीं होते हैं। कुछ अच्छे भी होते हैं। दा साहब के मंत्रिमंडल में लोचन भैया इसी का प्रतिनिधित्व करते हैं। वह वर्तमान में शिक्षा मंत्री हैं जो अपराधों और अपराधियों के खिलाफ उन्होंने सदन में अविश्वास प्रस्ताव लाने को ठान लिया है किंतु उनके साथ की ही चौधरी, मेहता राव जैसे मंत्री पदलोलुपता के वजह लोचन भैया का साथ छोड़ देते हैं जिससे वह सदन में अविश्वास प्रस्ताव लाने में असफल रहते हैं। कुछ समय बाद दा साहब अपने मंत्रिमंडल से उन्हें बर्खास्त भी कर देते हैं। अपनी कर्तव्यनिष्ठा और सामाजिक दायित्व को प्राथमिकता देते हुए लोचन भैया स्वेच्छा से त्यागपत्र दे देते हैं। यह सब उन्हीं दा साहब के वजह से हो रहा है, जो कहते हैं-''मैं तो भाई कबीर के दोहे का कायल हूँ कि निंदक नियरे राखिए। प्रशंसक से निंदक ज्यादा हितैषी होता है। हमेशा आपको सतपथ रखता है।''[7]

दा साहब एक तरफ निंदक नियरे राखिए की दुहाई देते हैं, वहीं दूसरी तरफ अपनी निंदा करने वालों को कभी बकसते भी नहीं हैं। एस.पी. सक्सेना को घटना के सच तक पहुंचने से पहले बर्खास्त करना, निरपराध बिंदेश्वरी को सजा दिलाना तथा लोचन भैया जैसे ईमानदार शिक्षामंत्री को मंत्रिमंडल से बर्खास्त करना कहीं ना कहीं सच को दबाने का प्रयास और लोकतांत्रिक मूल्यों की हत्या ही है। वर्तमान में भी दा साहब जैसे मुखौटाधारी चरित्रों की कमी नहीं है जो साँप को मारते भी हैं और लाठी भी बचाते नजर आते हैं।

दत्ता बाबू जो 'मशाल' के संपादक हैं। बिसू के हत्या की पूरी खबर को काफी सनसनीखेज बनाकर लिख चुके हैं और वह करीब-करीब छपकर पूरा होने वाला है। सुबह ही जनता के बीच 'मशाल' का अंक आने वाला है, किंतु दा साहब के प्रलोभन से पूरे सच को झूठ में तब्दील करने में दत्ता बाबू जरा भी नहीं हिचकिचाते हैं। बिसू की हत्या को आत्महत्या में तब्दील करके छाप देते हैं और इतना ही नहीं सुकुल बाबू के भाषण को एक जिम्मेदाराना हरकत बताते हुए यह आरोप भी लगाते हैं कि उन्होंने एक छोटी सी घटना को महज अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए मनमाने ढंग से विकृत करके लोगों में बिना वजह तनाव बढ़ाने का काम किया है।

वर्तमान मीडिया दत्ता बाबू के बिल्कुल करीब नजर

आती है। मीडियाकर्मी अपने स्वार्थ के लिए अपने कर्तव्यों का बलि चढ़ाने में जरा भी नहीं सोचते हैं। आखिर जनता पर इसका क्या असर पड़ेगा? इस बात से उनका कोई सरोकार नहीं रह जाता है। वह केवल अपनी उन्नति और प्रतिष्ठा चाहते हैं जैसे दत्ता बाबू और उनके दफ्तर के लोग हैं। दत्ता बाबू जब प्रेस पर पहुँच कर दा साहब की बात को भवानी से बताते हैं, तो वह आश्चर्यपूर्वक कहता है– ''दा साहब ने खुद बुलाकर कहा, यह सब तुमसे? दा साहब की कृपा हो जाए तो देर नहीं लगेगी 'मशाल' की रोशनी को देश के कोने–कोने फैलने में। जाने को उत्सुक भवानी पसरकर बैठ गया और जूते खोलकर पैंट भी ऊपर चढ़ा लिया''[8]

भवानी का जूते खोलकर पैंट ऊपर चढ़ा लेना, कहीं ना कहीं यह संकेत देता है कि भ्रष्टाचार में ऊपर से नीचे तक लगभग सभी का योगदान रहता है। 'मशाल' का अंक सुबह आने वाला था। यदि भवानी व उसके दफ्तर के अन्य सदस्य ना चाहते तो रातों–रात दत्ता साहब अकेले क्या ही कर लेते?

लखनसिंह के माध्यम से लेखक ने यह संकेत दिया है कि राजनीति में जाने के लिए किसी योग्यता की जरूरत नहीं होती है। उसे केवल सत्ताधारी वर्ग की कृपा मात्र की जरूरत होती है। लखनसिंह दसवीं पास है। वह दा साहब के संरक्षण में पला–बढ़ा है। उनके काफी करीबी माना जाता है। उन्हीं के आगे–पीछे लगा रहता है। अपने क्षेत्र में हो रहे छोटी सी छोटी बात को दा साहब के सामने बिना हिचकिचाहट के पेश करता है। लेखिका ने लखनसिंह और दा साहब के संबंधों को इन शब्दों मे बयाँ किया है– ''दा साहब के सूझ–बूझ का वह शुरू से ही बड़ा कायल है ...बड़े–बड़े संकट और घातक स्थितियों से उन्हें उभरता देखा है उसने खुद अपनी आँखों से। केवल देखा ही नहीं एक हद तक साझेदारी रहा है उनका।''[9]

लखनसिंह को दा साहब की कृपा से चुनाव का टिकट भी मिल जाता है। वर्तमान में भी कोई कितना भी योग्य क्यों ना हो? सत्ता पक्ष की कृपा के बिना किसी चुनाव टिकट नहीं मिल सकता है। कहना गलत न होगा। सत्ता में जाने के लिए योग्यता कोई महत्व नहीं रह गया है।

इस उपन्यास में दा साहब के विपक्ष के रूप में भूतपूर्व मुख्यमंत्री सुकुल बाबू हैं। उन्हीं के माध्यम से लेखिका ने विपक्ष के अवसरवादी और दोगलेपन चरित्र को उद्घाटित किया है। वे दस वर्षों तक मुख्यमंत्री रह चुके हैं। ज्योतिष में अनंत विश्वास रखते हैं। तरह–तरह के नग जड़ी अंगूठी पहने हैं। गले–बाजू में गंडे और ताबीज पहने हैं। सुरा–सुंदरियों से परहेज नहीं करते। मस्त फक्कड़ स्वभाव। दोस्तों के बीच फूहड़ भाषा का प्रयोग करते हैं। बिसू की हत्या को उन्होंने चुनाव के लिए हथियार बना लिया है। बिसू के पिता को न्याय का आश्वासन देते हैं। गाँव वालों के सामने ऐसी संवेदना व्यक्त करते हैं। जैसे बिसू हीरा का नहीं, उनका अपना बेटा हो। गाँव वालों के सामने मंच पर भाषण देते हुए कहते हैं–

''प्यारे भाइयों और दोस्तों,

''आपके दुख में शामिल होने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। दुख तो आप लोगों पर इससे पहले भी पड़ा था और इससे कहीं अधिक बड़ा दुख था वह। दुख शब्द तो बहुत हल्का है उसके लिए। सरेआम इतना जुल्म–ऐसा अमानुषिक अत्याचार!''[10]

अपने भाषण को और आगे बढ़ाते हुए कहते हैं – ''सच मानिए मुझे लगता है कि इस सरकार के हाथों आपका भला ही भला होना है तो आज आप लोग मुझे यहाँ कभी नहीं पाते। इस सत्कार में दा साहब का सहयोगी ना बनकर विरोधी बनूँ इतना नीच नहीं हूँ मैं; पर बातें कुछ और, काम कुछ। दिन दहाड़े के इस जुलम को चुपचाप बर्दाश्त कर लूँ। इतना गया गुजरा भी नहीं हूँ।''

क्षणिक विराम!

''यह मत सोचिए कि मैं यहाँ वोट माँगने आया हूँ। एक बार हारने के बाद अब हार–जीत का अंतर ही मिट गया मेरे लिए।''[11]

वर्तमान में सुकूल बाबू की ही तरह ऐसे राजनीतिक व्यक्तियों की कमी नहीं जो विपक्ष के रूप बिसू जैसे आम लोगों की हत्या का राजनीतिकरण करके सत्ता हासिल करने के लिए अपना उल्लू सीधा करते हैं। आम जनता के संवेदनाओं से खेलते हैं और यह सब करते हैं तब जब चुनावी समय नजदीक होता है। उनका मुख्य लक्ष्य ईमानदारी की झूठी दिखावट करके ज्यादा से ज्यादा लोगों को अपनी ओर आकर्षित करना रहता है ताकि ज्यादा से ज्यादा वोट मिल सके।

पुलिस शासन व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार को थानेदार साहब और डी.आई.जी. सिन्हा के माध्यम से उद्घाटित किया गया है। गाँव में क्लास स्ट्रगल और कास्ट स्ट्रगल

पर शोध सिलसिले में आए महेश शर्मा राजनीतिक हथकंडों के सामने विवश हैं। उनकी सच को सुनने वाला कोई नहीं है। वह बिसू के हत्यारे और हत्या के कारणों को भली-भाँति जानते हुए भी कुछ नहीं कर पाते हैं। यह केवल महेश शर्मा ही नहीं बल्कि समाज में ऐसे तमाम शिक्षित लोग हैं जिनका सत्ता और भ्रष्ट प्रशासन व्यवस्था के आगे कुछ भी नहीं चल पाता है। न उनकी सच कहने की हिम्मत होती है, न ही उनके सच को सुनने वाले लोग हैं। बिसू के पिता भी यह जानते हैं कि हत्या जोरावर ने ही की है; फिर भी वह एस.पी. सक्सेना के सामने यह नहीं कहते कि जोरावर ने ही उसकी हत्या की है। वह अपने बेटे को दोष देते हैं कि उसने हम लोगों की बात नहीं मानी अर्थात् बिसू यदि व्यवस्था का विरोध न करता तो शायद जीवित रहता। जब सक्सेना हीरा से कहते हैं -

''तुम्हें भी शक है जोरावर पर?'' तब हीरा कहता है-

''हम का सक कर सके सरकार! आँखिन से देखे बिना कैसे केहिका नाम लेइलें।''

कहीं-न-कहीं हीरा के माध्यम से लेखिका ने इस बात का संकेत दिया है कि गरीब लोग पर कितनी बड़ी मुसीबत क्यों न आ जाए, वह प्रतिक्रियावादी नहीं होता, उसमें मानवता बरकरार रहती है। जैसे बेटे की मौत पर भी हीरा तटस्थ रहता है, उसमें बदले की भावना बिल्कुल नहीं है।

इस उपन्यास में एक प्रमुख स्त्री पात्र रुक्मा भी है जो शादी से पूर्व बिसू की प्रेमिका रह चुकी है और वर्तमान में बिंदा की पत्नी है। बिंदा, रुक्मा के घर आकर रह रहा है और बिसू और बिंदा की काफी घनिष्ठ मित्रता भी हो जाती है। बिसू ने उसे कभी प्रतिशोध या घृणा की भावना से नहीं देखा, जैसा अक्सर आजकल हो रहा है कि अपने प्रेम के चक्कर में लोग एक दूसरे की जान ले लेते हैं। बिंदा उन लोगों के प्रतीक के रूप में सामने आया है, जो अन्याय के प्रति आवाज उठाते हैं। बिसू की मौत के बाद वह उसे न्याय दिलाने के लिए एड़ी चोटी का दम लगा देता किंतु सत्ता के अंगुलियों पर नाचने वाले कानून व्यवस्था का शिकार हो जाता है। उस पर ही बिसू के हत्या का आरोप लगा दिया जाता है और उसे जेल भी हो जाती है। बिंदा ही केवल ऐसा व्यक्ति नहीं है जो न्याय के लिए संघर्ष करते-करते जेल में डाल दिया जाता है। वर्तमान में तमाम ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें भ्रष्ट शासन व्यवस्था की वजह से सलाखों के अंदर कर दिया जा रहा है।

उपन्यास के अंत में दिल्ली जाने वाली रेल के सेकेंड डिब्बे में सक्सेना के बगल बैठी रुक्मा सिसक रही है और गोदी में रखे ब्रीफकेस में आगजनी के और बिसू की मौत की प्रमाण से भरी फाइलें रखी हैं, जो इस बात का संकेत देता है कि प्रशासन व्यवस्था जनता का चाहे कितना भी शोषण क्यों ना करें; वह न्याय की उम्मीद कभी नहीं छोड़ेगा।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास का 'महाभोज' शीर्षक अपने आप में सार्थक है। जैसे किसी की मृत्यु हो जाती है तो पूरा परिवार पीड़ा और यातना में रहता है। उसकी स्मृतियों में डूबा रहता है किंतु महाभोज (मृत्युभोज या श्राद्ध भोज) के लिए आए महा ब्राह्मण उस भोज का स्वाद लेने से जरा भी परहेज नहीं करते हैं। आज के समय में इसी प्रकार का महाभोज देखा जा सकता है और आज के महा ब्राह्मण कोई और नहीं दा साहब और सुकुल बाबू जैसे राजनेता, डी.आई.जी. सिन्हा जैसे पुलिस अधिकारी, दत्ता बाबू जैसे मीडियाकर्मी और जोरावर जैसे अपराधी हैं। इन जैसे लोगों की साँठ-गाँठ से गरीबों, शोषितों का शोषण हो रहा है। जैसे बिसू की मृत्यु पर एक तरफ पूरा परिवार गम में डूबा हुआ है, वहीं दूसरी तरफ दा साहब और सुकुल बाबू जैसे लोग अवसर तलाश कर बारी-बारी उसकी मौत पर राजनीति करते हैं। उपन्यास में वर्णित घटनाएँ और पात्र भले ही काल्पनिक हैं किंतु वर्तमान समाज की वास्तविकता के काफी समीप दिखाई देते हैं। उपन्यास यह भी संकेत करता है कि राजनेता, प्रशासनिक व्यवस्था आदि कितनी भी कुत्सित क्यों न हों जाएँ, बिसू, बिंदा, लोचन भैया और एस.पी. सक्सेना जैसे लोग अन्याय के प्रति हमेशा आवाज उठाते रहेंगे।

*परास्नातक (हिंदी)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : suldeep26@gmail.com
नेट जेआरएफ, 2022

**परास्नातक (हिंदी)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : monojito0836@gmail.com
नेट जेआरएफ, 2023

संदर्भ सूची

1. महाभोज, 55वाँ संस्करण, मई, 2023, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, जी–17, जगतपुरी, दिल्ली –110051, पृष्ठ संख्या–18
2. वही, पृष्ठ संख्या–12
3. वही, पृष्ठ संख्या–12
4. वही, पृष्ठ संख्या–18
5. वही, पृष्ठ संख्या–77
6. वही, पृष्ठ संख्या–56
7. वही, पृष्ठ संख्या–31
8. वही, पृष्ठ संख्या–36
9. वही, पृष्ठ संख्या–15
10. वही, पृष्ठ संख्या–24
11. वही, पृष्ठ संख्या–25

शोध-पत्र

मीरा के काव्य का पुनरावलोकन

सचिन कुमार मीणा

सारांश

भक्तिकाल में मीराबाई की कविता में न तो कोई सम्प्रदायगत निष्ठा है और न ही लोक-शास्त्र के समर्थन की आकांक्षा, बल्कि वह निर्भय सात्विक एवं रागसिक्त मन की ऐसी करुण किंतु प्रतिरोधी पुकार है, जहाँ दर्द ही दवा है। वह समर्पण, आत्मदान के साथ ही स्त्री स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने वाली कविता है, जिसका प्रस्थान बिंदु भले ही अध्यात्म हो, किंतु अपनी परिणति में सामाजिक- सांस्कृतिक चिंताओं से युक्त है। शिव कुमार मिश्र के शब्दों में-'मीरा समूचे भक्ति काल में अकेली नारी भक्त हैं जिन्होंने अपनी आत्म निवेदन पूर्ण कविता में अपनी भक्ति और प्रेम के माध्यम से, एक पूरी की पूरी समाज-व्यवस्था की असहिष्णु और अमानवीय मानसिकता को, उसकी भेदभावपूर्ण रीति-नीति को, उसके दो मुँहे चेहरे को बेनकाब किया है'। यहाँ कोई दार्शनिक वाद-विवाद नहीं है, फिर भी भक्ति का लोकवादी एवं सामंतवाद विरोधी चरित्र दिखाई देता है, जो मानवधर्म को सबसे बड़ा मूल्य मानता है।

बीज शब्द-भक्ति, प्रेम,सगुण-प्रेम, दास्यभाव, कृष्णभक्ति, विरह, सामंती व्यवस्था, भारतीय समाज

शोध आलेख

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में पूर्व मध्यकाल या भक्तिकाल का समय संवत् 1375 से संवत् 1700 माना है। इस काल में उनके अनुसार भक्ति की दो प्रमुख शाखाएँ थीं-निर्गुण भक्ति तथा सगुण भक्ति। प्रत्येक शाखा में दो-दो काव्य-धाराएं प्रवाहित हुई-निर्गुण शाखा की संत काव्यधारा और सूफियों से प्रभावित प्रेममार्गी काव्यधारा तथा सगुण शाखा की कृष्णभक्ति काव्य-धारा तथा रामभक्ति काव्य धारा। कृष्णभक्ति शाखा की हिंदी की महान कवियित्री मीराबाई का जन्म 1504 ई. में राजस्थान के मेड़ता राज्य के कुड़की गाँव में हुआ था। इनका विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज के साथ हुआ था। आरम्भ से ही इनकी कृष्ण भक्ति में रूचि थी। परन्तु विद्वानों के बीच में इनके जन्म को लेकर मतभेद दिखाई पड़ता है। कुछ विद्वान् मीरा का समय 1498-1545 ई. निर्धारित करते हैं। स्पष्ट है कि वह अपनी पूर्ववर्ती भक्ति-पद्धतियों से परिचित भी थी और उनके काव्य पर थोड़ा-बहुत इन भक्ति-पद्धतियों का प्रभाव भी पड़ा होगा। मीरा का समय बहुत राजनैतिक उथल-पथल का रहा था। बाबर का हिंदुस्तान पर हमला और प्रसिद्ध खानवा की लड़ाई जोकि बाबर और राणा संग्राम सिंह के बीच हुई थी जिसमें राणा सांगा की पराजय हुई और भारत में मुगलों का अधिपत्य शुरू हुआ। इन सभी परिस्थितियों के बीच मीरा का रहस्यवाद और भक्ति की निर्गुण मिश्रित सगुण पद्धति सर्वमान्य बनी रही। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन की आध्यात्मिक प्रेरणा ने जिन कवियों को जन्म दिया उनमें मीराबाई का विशिष्ट स्थान है। इनके पद पूरे उत्तर-भारत सहित गुजरात, बिहार और बंगाल तक प्रचलित हैं। मीरा हिंदी और गुजराती दोनों भाषाओं की कवयित्री मानी जाती है। मीरा की भक्ति दैन्य और माधुर्य भाव की है। इन पर योगियों, संतों और वैष्णव भक्तों का सम्मिलित प्रभाव पड़ा है। मीरा के पदों की भाषा में राजस्थानी, ब्रज और गुजराती का मिश्रण पाया जाता है, वहीं पंजाबी, खड़ी बोली और पूर्वी के प्रयोग भी मिल जाते हैं। ''वास्तव में

उनकी भाषा मारवाड़ी थी। किंतु काव्य-भाषा ब्रजभाषा में उन्होंने रचना की हो, यह असम्भव नहीं है। वे स्वयं वृंदावन आई भी थी। इस समय उनकी जो पदावली उपलब्ध है, उसमें तो राजस्थानी और ब्रज का मिश्रण है।''[1] कबीर की तरह ही मीराबाई की काव्यभाषा के आधार में कई बोली-रूप मिश्रित है। मीराबाई की पदावली की भूमिका में परशुराम चतुर्वेदी ने दिखाया है कि मीरा में चार भाषा स्तरों का प्रयोग है-राजस्थानी, ब्रजभाषा, पंजाबी और गुजराती।

संत रैदास की शिष्या मीरा की कुल ग्यारह कृतियाँ उपलब्ध हैं। मीराबाई रैदास को अपना गुरु मानते हुए लिखती हैं-'गुरु मिलिया रैदास दीन्ही ज्ञान की गुटकी'। मीराबाई के काव्य में मध्यकालीन नारी का जीवन बिंबित होता है। मीरा की कविताओं में व्याकुलता एवं वेदना की निश्छल अभिव्यक्ति पाई जाती है। मीरा की कविता में रूप, रस और ध्वनि के प्रभावशाली बिंब है। मीरा के काव्य पर निर्गुण-सगुण दोनों साधनाओं का प्रभाव है। उन पर नाथ मत का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। उनके इष्ट देव तो कृष्ण ही है। किंतु रामकथा से संबंधित गेय पद भी उन्होंने लिखे हैं।

मैनेजर पाण्डेय के कथन के अनुसार, ''मीरा को अपने विवेक की रक्षा के लिए जिस अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ा उससे भक्तिकाल के किसी दूसरे कवि को नहीं। कबीर, जायसी और सूर के सामने चुनौतियाँ और कठिनाइयाँ थीं। एक स्त्री, वह भी मेड़ता के राठौर राजपूत कुल की बेटी और मेवाड़ के महाराणा परिवार की बहू, ऊपर से विधवा। यही था मीरा का अपना लोक। उसके धर्म और उसमें स्त्री की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। लेकिन उसके विरुद्ध की कल्पना भी कठिन है। मीरा ने उसके विरुद्ध खुला विद्रोह किया। उस विद्रोह का साक्षी है उनका जीवन और काव्य।''[2] मीराबाई के काव्य में संयोग और वियोग दोनों का वर्णन हुआ है। किंतु उन्होंने संयोग की अपेक्षा वियोग का अधिक प्रयोग काव्य में किया है। उनके प्रभु उनसे दूर चले गए हैं। वह अपने गिरधर को अपने पास देखना चाहती है। इसलिए वह कहती हैं कि-

''दरस विण दूखाँ महारा णैण।
सबदाँ सुणताँ मेरी छातियाँकाँपाँ मीठो थारोवैण।
बिरह विथाकासूँ री कह्याँपैठाँ करवत अैण।
कल णाँ पड़ताँ हरि मग जोवाँ, भयाँ छमासी रैण।''[4]

लौकिक से अलौकिक सत्ता की ओर उन्मुख होना रहस्यवाद है। मीरा ने अपनी भक्ति में नवधा भक्ति का समावेश किया है। संतों के बीच बैठकर हरि की चर्चा सुनने में उन्हें सर्वाधिक आनंद आता है।

''कुंजन-कुंजन फिरयां साँवरा, सबद सुण्या मुरली का।
मीराँ रे प्रभु गिरिधर नागर, भजण बिणा नर फिकाँ।''[4]

मीराबाई का कृष्णभक्ति में नाचना और गाना राज परिवार को नहीं सुहाता था। उन्होंने कई बार मीराबाई को विष देकर मारने की कोशिश की। घर वालों के इस प्रकार के व्यवहार से दु:खी होकर वह द्वारका और वृंदावन गई। वह जहाँ जाती थीं, वहाँ लोगों का सम्मान मिलता था। लोग इनको देवियों के जैसा प्यार और सम्मान देते थे। इसी दौरान उन्होंने तुलसीदास को पत्र लिखा था-

''स्वस्ति श्री तुलसी कुलभूषण, दूषण- हरणगोसाई।
बारहिं बार प्रणाम करहुँ, अब हरहुलोक समुदाई।।
घर के स्वजन हमारे जेते, सबन्ह उपाधि बढ़ाई।
साधु-सग अरु भजन करत मोहि, देत कलेस महाई।।''[5]

मीरा की भक्ति में माधुर्य-भाव काफी हद तक पाया जाता था। वह अपने इष्टदेव कृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती थी। उनका मानना था कि इस संसार में कृष्ण के अलावा कोई पुरुष है ही नहीं। कृष्ण के रूप की दीवानी थी।

''बस्याँ म्हारे णेणणमाँ नंदलाल।
मोर मुगट मकराक्रंत कुण्डल अरूण तिलक सोहाँ भाल।
मोहन मूरत, साँवराँसुरत णेणाबण्या विशाल।।
अधर सुधारस मुरली राजाँउर बैजन्ती माल।
मीराँ प्रभु संताँ सुखदायाँ, भगत बछल गोपाल।।''[6]

मीराबाई की पदावली का आज तक कोई ऐसा पाठ नहीं मिला है जिसे पूर्णत: प्रामाणिक कहा जा सके। मीरा के काव्य के अनेक भाव हमारे बीच तैरते दिखाई देते हैं। शोधार्थियों के बीच को लेकर एक सामान्य राय बन चुकी है कि मीरा ने कृष्ण को पति के रूप में ग्रहण किया। मीरा की भक्ति भावना और प्रेम का स्वरूप क्या था? इसका अध्ययन समय-समय पर होता रहता है। कृष्ण का आत्मसातीकरण करने की छुट कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने विभिन्न रूप से किया है। यही कारण है कि भक्ति की अनेक पद्धतियों का उपयोग कृष्ण शाखा के कवियों में दिखाई देता है। मीरा की भक्ति में माधुर्य-भाव

काफी हद तक पाया जाता है। वह अपने इष्टदेव कृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती है। क्योंकि उनका मानना था कि इस संसार में कृष्ण के अलावा कोई पुरुष है ही नहीं। मीरा के जीवन से परिचित होने तथा उनकी रचनाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के उपरांत स्पष्ट हो जाता है कि मीरा को किसी भक्ति-सम्प्रदाय या दर्शन ने भक्त-कवयित्री नहीं बनाया था। जीवन की विषम परिस्थितियों के फलस्वरूप ही मीरा को कवि हृदय प्राप्त हुआ था जिससे उनके भक्ति-भावना का प्रवाह उमड़ा। जहाँ तक उनके उपास्य का संबंध है, उसके संबंधमें विद्वानों में भले ही मतभेद हो परन्तु उनके प्रारंभिक जीवन और बाद की घटनाएं स्पष्ट संकेत करती हैं कि उनके आराध्य गिरधर गोपाल, नटनागर, कृष्ण थे। जिन पितामह राव दूदाजी की स्नेह छाया और संरक्षण में मातृहीन मीरा का बचपन बीता वह भी वैष्णव भक्त में डूबा परिवार था। उन्हीं के वैष्णव संस्कारों से मीरा के व्यक्तित्व का निर्माण और विकास में सहायता करते दिखाई देते हैं। मीरा को कृष्ण की एक मूर्ति मिली जिसके रूप-सौंदर्य पर वह मुग्ध हो उठीं। यह भी किवदंती है कि माता ने उसी मूर्ति को उनका नाम बताकर उससे प्रेम करने को कहा था। इस प्रकार के प्रसंगों ने मीरा के बाल-हृदय में कृष्णभक्ति का अंकुर रोप दिया और बाद में जीवन की विषम स्थितियों में भी पति की अकाल मृत्यु में विधवा का दयनीय जीवन में राणा और राजकुल के अत्याचारों में, पुरुष प्रधान सांमती समाज की क्रूरता ने उन्हें कृष्ण-भक्ति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। अनाथ, असहाय, बेसहारा, कुटुम्बी जनों द्वारा सताई जाने वाली मीरा के लिए भक्त वात्सल्य, दीनबंधु, अशरण को शरण देने वाले भगवान के चरणों में आश्रय खोजने के अतिरिक्त कोई चारा न था। यहाँ प्रस्तुत समस्त विद्वानों के तर्क रामचंद्र शुक्ल के उस भक्ति के उत्थान के तर्कों का प्रबल समर्थन भी करते हैं जिसमें उन्होंने कहा कि इस्लाम के आगमन से भक्ति का उदय हुआ।

मीरा ने अपने काव्य में अपने आराध्य को कई नामों से पुकारा है- हरि, श्याम, नंदलाल, मोहन, गोपाल, गोविन्द, ब्रजनाथ, गिरधर लाल, मनमोहन, जोगिया या जोगी। पर जो नाम उन्हें सर्वाधिक प्रिय है वह है गिरिधर गोपाल।

''म्हारां ही गिरधर गोपाल, दूसरा जां कूया।''[7]

मीरा के आराध्य गिरधर में राम, कृष्ण, निर्गुण भक्त कवियों में ब्रह्म सभी के गुण समान रूप से उपस्थित दिखाई देते हैं। वह राम की तरह शक्ति, शील और सौंदर्य की त्रिमूर्ति हैं। वह लोकरक्षक दैत्यों का संहार करते हैं, अत्याचारियों से अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। वह लोकरंजक होने के नाते विभिन्न लीलाएं-रासलीला, जलक्रीड़ा, चीरहरण, माखन चोरी, गोपियों के साथ वन विहार, ग्वालों के साथ गोचारण आदि करते हैं। उनकी सांवली सूरत तथा मोहिनी मूरत में सत्य, शील और कर्म का समन्वय है।

प्रेम की अभिव्यंजना मनुष्य को कोमल हृदय प्रदान करती है। प्रेम उस प्रेरणादयानी शक्ति के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है जिसकी अनुभूति ही बड़े-से-बड़ा दु:ख झेलने की शक्ति प्रदान करता है। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल और शबनम जैसे कुछ विद्वान मीरा को निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासिका मानते हैं। यह सत्य है कि मीरा के समय में संत मत का पर्याप्त प्रचार और प्रभाव था और मीरा पर भी उसका थोड़ा-सा प्रभाव दिखाई देता है। कुछ पदों में उन्होंने अपने उपास्य को सर्वशक्तिमान, अनिर्वचनीय बताया है, गुरु की महिमा भी स्वीकार की है, अपने उपास्य के साथ एक हो जाने की इच्छा व्यक्त की है, उसके रंग में रंग जाने की बात कही है, कुछ पदों में संत काव्य की शब्दावली-जोगी, जोगिया, निर्गुण का सुरमा, प्रेमहटी का तेल, मनसा की बाती, सुरत-निरत का दिवला, अगम का देस, गगन-मंडल, त्रिकुटभ, निरंजन, अनहद नाद आदि का भी प्रयोग किया है, परन्तु कृष्णभक्त परिवार में जन्म और पालन-पोषण तथा कृष्णभक्त परिवार में विवाह तथा उनके पदों में कृष्ण-भक्ति का स्वर, कृष्ण के गुणानुवाद, अवतार रूप में उनकी लीलाओं का वर्णन-यह सब सिद्ध करता है कि उन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप श्रीकृष्ण को ही अपना आराध्य बनाकर उनके प्रति अपना अविचल प्रेम, पूर्ण समर्पण-भाव प्रकट किया था। भक्त के लिए जिस तन्मयता एवं समर्पण भाव आवश्यक होते हैं। वे मीरा के काव्य में भरपूर मात्रा में विद्यमान हैं। उनका कृष्ण की जन्मभूमि एवं लीला-भूमि ब्रज प्रदेश, मथुरा, वृन्दावन, द्वारिका की यात्रा, वहाँ कुछ दिन तक रहना और द्वारिका में रणछोड़ जी की मूर्ति की आराधना करते हुए प्राण-त्याग ये सब उन्हें पूर्णत: कृष्ण-भक्त सिद्ध करते हैं।

महारो बेड़ो लगाज्यो पार, प्रभुजी अरज करूँ छूँ।
या भव में म्हे बहु दुख पायो, संसा सोग निवार।
अष्ट करम की तलब लगी है, दूर करो दु:ख भार।

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

यो संसार सब बह्यो जात है, लख चौरासी री धार।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, आवागमन निवार।।[8]

जीवन और दर्शन का अतीव घनिष्ठ संबंध है। दर्शन जीवन का आधार है, तो जीवन दर्शन का प्रधान विषय है। दोनों की सत्ता एक-दूसरे पर आश्रित है। मनुष्य के जीवन के प्रत्येक स्तर पर दर्शन का प्रभाव होता है। अन्वेषणोपरान्त दर्शन प्रदत्त सत्य जब जीवन को प्राप्त होता है तो जीवन उसे व्यवहार में लाता है और प्रयोगोपरान्त प्रस्तुत होने वाले प्रश्नों को पुन: विचारार्थ दर्शन को सौंप देता है। जीवन को सदा उसके दर्शन रूपी हृत्पिण्ड से पल-पल विचारों की, जीवन के शाश्वत मूल्यों की शृंखला प्राप्त होती रहती है। इसी में जीवन की सत्ता है, अस्तित्व है, उपयोगिता है। सतत क्रियाशील इस प्राणदायिनी प्रणाली के अभाव में न तो दर्शन का अस्तित्व रहता है और न जीवन का, अत: जीवन को सचेष्ट, सक्रिय और सजीव बनाये रखने में दर्शन की परम भूमिका होती है। उनके आराध्य गिरधर में राम, कृष्ण, निर्गुण भक्त कवियों में ब्रह्म सभी के गुण हैं। वह राम की तरह शक्ति, शील और सौंदर्य की त्रिमूर्ति हैं। वह लोकरक्षक दैत्यों का संहार करते हैं, अत्याचारियों से अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। वह लोकरंजक होने के नाते विभिन्न लीलाएं-रासलीला, जलक्रीड़ा, चीरहरण, माखनचोरी, गोपियों के साथ वन विहार, ग्वालों के साथ गोचारण आदि करते हैं। उनकी सांवली सूरत तथा मोहिनी मूरत में सत्य, शील और कर्म का समन्वय है।

विरह को प्रेम का तप्त स्वर्ण कहा गया है। प्रेम की पीर और विरह वेदना की अमर गायिका मीरा का कृष्ण भक्ति शाखा के साधकों और कवियों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृष्ण-प्रेम की कसक आज भी उसके विरह-गीतों के बोलों में कसक-कसक कर सहृदयों, संगीतकारों की हृदय की धड़कनें बढ़ा देती है। वास्तव में 'प्रेम की पीर' और कृष्ण विरह की अनवरत धड़कन का नाम ही मीरा है। 'नरसीजी का मायरा', 'गीत-गोविन्द की टीका', 'मीरानी गरबी', 'रास गोविन्द', राग सोरठ के पद और 'मीरा के पद' आदि मीरा की प्रमुख रचनाएँ मानी जाती हैं। इन रचनाओं के आधार पर मीरा के काव्य में लोक जीवन और दर्शन का हमें परिचय मिलता है। मीराबाई दर्शन, विचार और उपासना के प्रत्येक क्षेत्र में भिन्न दिखाई देती है। यद्यपि मीरा की भक्ति किसी विशिष्ट सम्प्रदाय या दार्शनिक मतवाद की सीमा में नहीं बँधती, पर उनकी रचनाओं पर नाथपंथ, संतकाव्य, पुष्टि मार्ग, चैतन्य सम्प्रदाय, भागवत की नवधा भक्ति आदि का आंशिक प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने मीरा पर निर्गुण प्रभाव को स्वीकार करते हुए लिखा-''यद्यपि मीराबाई व्यवहारत: सगुणोपासिका थी और कृष्ण की उपासना रणछोड़ के रूप में किया करती थी, फिर भी यह सच है कि उनके कहे जाने वाले पदों में निर्गुण विचारधारा स्पष्ट दिखती है। उन्होंने अपनी प्रेम सम्बन्धी विनय कृष्ण एवं ब्रह्म दोनों के प्रति एक साथ की है।''[9] विरह-वेदना का तीव्र स्वर जितना मीरा के काव्य में मिलता है उतना सूरदास के 'भ्रमरगीत' को छोड़कर अन्यत्रा नहीं मिलता। प्रो. गोपेश्वर सिंह लिखते हैं-''अपने अंतर में 'भारी पीर' लिए दर्द के मारे दर-दर डोलनेवाली इस भाव-प्रवण भक्त कवयित्री के पास वेदना की जो थाती है, वह उसके समकालीनों में किसी के पास नहीं। अपूर्व दर्द, अपूर्व साहस और अपूर्व विद्रोह से भरी इस प्रेम-साधिका ने 'राणा' को चुनौती दी है, वैसी प्रत्यक्ष चुनौती दुर्जनों को शायद ही उस जमाने में किसी ने दी हो।''[10] विरह की आग में उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व जल रहा है, विरह का कीट उनके शरीर में घुन की तरह लगा हुआ भीतर-ही-भीतर उसे क्षीण कर रहा है। उनकी पीड़ा की मार्मिक करुणोत्पादक स्थिति का चित्रा निम्नलिखित पंक्तियों में साकार हो उठा है।

''तेरे कारण वन वन डोलूँ
कर जोगण कौ भेस
अवधि बदी पर भजहुँ न आये
पंडर होइ गया केस।''[11]

निष्कर्षत: मीरा ने श्रीकृष्ण से प्रेम किया था, फलत: उनका सारा जीवन ही कृष्णमय हो गया था। मीरा के पदों में कतिपय पारिभाषिक शब्दों को आधार बनाकर उनके जीवन पर विभिन्न दर्शनों के मतों के प्रभाव द्वारा की गई आलोचकों ने व्यंजित किया, पर मीरा तो प्रेम दिवानी थी। उसे किसी संप्रदाय विशेष की मान्यताओं के आलोक में ही देखकर मूल्यांकन करना उचित नहीं होगा। मीरा का जीवन ही कृष्ण प्रेम था और दर्शन भी कृष्ण प्रेम, अत: उन्होंने कृष्ण की आराधना कांता भाव या गोपी भाव से की वे अपने आराध्य को भी प्रति मानकर ही पुकारती है, उसके विरह में व्याकुल होकर तड़पती है। इसस उनके सगुणोपासक होने में कोई संदेह नहीं रहता। संभवत:

साधु-संगति के प्रभाव से उनके काव्य में निर्गुण शब्दावली आ गई हों, पर भक्ति में 'मधुरिया भाव' प्रमुख है। सगुण-प्रेम के विरह मिलन के प्रभाव एवं संस्पर्श अत्यधिक प्रभावी हैं। उसकी माधुर्य भावना अनेक स्थलों पर सूर और तुलसी से भी आगे दिखाई देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेम-विवश मीरा स्वयं भाव-विभोर होकर श्रीकृष्ण के साथ लीलाएँ कर रही हों, अतः यदि प्रभाव की दृष्टि से ही देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि उन पर चैतन्य महाप्रभु की दार्शनिक मान्यताओं का सर्वाधिक प्रभाव था साथ ही उनके जीवन-दर्शन पर पड़ा। समग्र रूप से वह स्वयं ही भक्ति की मंदाकिनी बनकर जगत को रस-आप्लावित कर गई। उस रस सृष्टि में उनका भव्य जीवन और भव्य दर्शन हमें डूबने को प्रेरित करता है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेलः- sachinkmeenadu@gmail.com

संदर्भ सूची

1. वार्ष्णेय, लक्ष्मी सागर, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, पृ. 172
2. पाण्डेय, मैनेजर, भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, राजकमल प्रकाशन, 2001, पृ. 21
3. मीराँबाई की पदावली, (सं) आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2008, पृ. 126
4. वही, पृ. 143
5. वही, पृ. 209
6. वही, पृ. 95
7. वही, पृ. 100
8. वही, पृ. 135
9. डॉ. चातक एवं डॉ. महर्षि, हिंदी साहित्य, पृ. 65
10. सिंह, प्रो. गोपेश्वर, भक्ति आंदोलन और काव्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2017, पृ. 115
11. मीराँबाई की पदावली, (सं) आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2008, पृ. 125

शोध-पत्र

रघुवंश महाकाव्य का दार्शनिक विवेचन

इन्दू चारण

भूमिका

वैदिक काल के ऋषियों नें मनुष्यों के हित के लिये दर्शनों का परिचय कराया। 8वीं शताब्दी में याज्ञवल्क्यादि ऋषि प्राचीन दार्शनिक हैं। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'दर्शन' शब्द दृशिर प्रेक्षणे[1] इस धातु से करणार्थ में ल्युट[2] प्रत्यय करने से ये सिद्ध होता है। अत: इसका अर्थ दृष्टि या देखना है, करणार्थक से प्रत्यय हुआ है तो इसका अर्थ होगा जिसके द्वारा देखा जाये। दर्शन शब्द का अर्थ केवल देखना ही नहीं है इसीलिये पाणिनि जी ने प्रेक्षण शब्द का प्रयोग किया है। प्रकृष्ट शब्द का अन्तश्चक्षुओं द्वारा देखना या मनन करना है। इस प्रकार के प्रकृष्ट ईक्षण के साधन और फल दोनों का नाम दर्शन है। जहां पर इन सिद्धान्तों का संकलन हो उन ग्रन्थों को भी दर्शन कहते हैं यथा- न्यायवैशेषिकदर्शनादि।

दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-दृश्यते अनेन इति दर्शनम् अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाये। और ये जो देखने की प्रक्रिया है वो दो प्रकार से होती है-(1) द्रष्टा-नित्यद्रष्टि। (2) अन्त:करण- इन्द्रिय से सम्बन्ध अन्त:करण को ही दर्शन कहा जाता है जोकि दर्शन का लौकिक अर्थ है। 'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' यह दर्शन शब्द का रुढ अर्थ है। क्योंकि व्युत्पत्ति के अर्थ की अपेक्षा रुढ़ि अर्थ प्रधान होता है। दर्शनों के क्षेत्र म विशेष रुप से तत्वस्वरूप, ज्ञान, उसके साधन, उसके प्रमाण तथा कर्म उसका फल इत्यादि विषयों पर विशेष चर्चा की जाती है। इस प्रकार भी कह सकतें हैं दर्शन वह विधा है जिसके द्वारा तत्व, ज्ञान एवं आचार सम्बन्धी विषयों अध्ययन करके संसार का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

मुख्य प्रतिपाद्य विषय

इसी भारतीय दर्शन क्रम में जब भारतीय कवियों का विकास हो रहा था तब भारतीय कवियों ने केवल मनोरंजन को काव्य की दृष्टि न मानकर अपितु उसमें अनेक धर्म और अधर्म का विचार किया। इसी के साथ ही तत्व ज्ञान की बात और पुरुषार्थ की बात एवं, जीव और परमेश्वर की बात की जीव की अवस्था एवं संसार की अवस्था के बारे में पंचमहाभूतों के बारे में इत्यादि जो विषय भारतीय दर्शनों के अंग भूत विषय हैं उन सभी विषयों पर विस्तृत प्रकाश डाला है। इसीलिए इस शोध पत्र के माध्यम से हम देखेंगे कि भारतीय काव्यकारों ने अर्थात् व्यास भास कालिदास एवं उनके सामान अनेक महाकवियों ने जो काव्य ग्रंथ बनाए हैं उन काव्य में भारतीय दर्शन की विचारधारा को कैसे पिरोया है।

जब हम कालिदास के कवियों का अध्ययन करते हैं निसंदेह हमें उसमें अनेक ऐसी उपमाएं मिलती हैं जिसे काव्य की सुंदरता अत्यंत बढ़ जाती है, लेकिन इसी सुंदरता के बीच में जब किसी वियोग का प्रतिपादन हो या राजा के धर्म का प्रतिपादन हो तो कालिदास अत्यंत अपनी सूक्ष्म बुद्धि से अनेक धर्म विषय में चर्चा करते हुए लोगों का अपने कृति बोधित करते हैं। जैसे कि रघुवंश के पांचवें सर्ग में रघु का वर्णन करते हुए कालिदास कहते हैं कि-

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं नि:शेषविश्राणितकोशजातम्।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्स: प्रपेदे वरतन्तुशिष्य:।।[3]

इस श्लोक का साक्षात् अर्थ है कि विश्वजिन्नामकयाग में सारे अर्थ राशियों के समूह का दान किये हुए रघु के पास 14 विद्याओं मे, छह अंगों के कृत भूरिपरिश्रम वरतन्तु

नाम महर्षि के शिष्य कौत्स गुरु दक्षिणा की याचना हेतु रघु के दरबार मे पधारे। अब जब इस श्लोक को वैदिक दर्शन के तहत अध्ययन करते हैं तो दो विषय साक्षात्कार होते हैं, पहला विषय उपात्तविद्य: इस पद से 14 विद्याओं का अध्ययन एवं सभी प्रकार के अध्ययन का गुरुमुख के द्वारा होना जोकि स्वाध्यायोध्येतव्य: इस अध्ययन विधि को द्योतित करता है एवं गुरुमुख से अध्ययन गुरूपसदन रूप विधि को द्योतित करता है। अध्ययन विधि का मतलब क्या है? कैसे ये वैदिक विधि है इसको सङ्क्षेप से जानेंगे।

कुछ आचार्यो स्वशाखा अध्ययन को प्रमाण्य मानते हैं परंतु स्वशाखा के संस्कार समय पर न होने से उनको व्रात्य नहीं मानते। उनके मत का खंडन तो उपनयन संस्कार के ब्रह्मोपदेश समय ही हो जाता हैं। क्योंकि यदि परशाखा का उपनयन किया तो ब्रह्मोपदेश (सावित्री/गायत्री मंत्र) प्रदान अध्यापन किस शाखा का करेंगे? यदि परशाखा का गायत्री मंत्र प्रदान जनेऊ समय किया तो स्वाध्यायोऽध्येतव्य:।।[4] श्रुति का विरोध हो जाएगा। शांखायन सूत्र में आया है कि जनेऊ-संस्कार में गायर्त्युपदेश के लिए कुमार को अग्नि से उत्तर में पश्चिमाभिमुख बिठाकर आचार्य पूर्वाभिमुख होकर कुमार को स्वशाखीय अध्ययन के लिए ''अधीहिभो:'' प्रैष कहे ।

प्राङ्गमुख आचार्य: प्रत्यङ्गमुखइतरोऽधीहिभो:।।

(शांखायनसूत्रोक्ते:)

इस तरह मनुस्मृति 11/180 में भी कुल्लुक भाष्य हैं अध्यापन मत्रोपनयनपूर्वकंसावित्रीश्रावणम्।।

इस प्रकार जनेऊ-संस्कार में ही श्रुतिसम्मत स्वशाखा के गायर्त्युपदेश से ही अध्ययन आरंभ होना सूत्रकार व स्मृतिकार उचित मानते हैं।

तथा च कौत्स मुनि के विशेषणाङ्ग रूप से जो स्वाध्याय शब्द का पाठ आया है। उसका योगदर्शन रूप से तात्पर्य है कि मोक्ष विधायक शास्त्रों का अध्ययन। इसी पर भाष्यकार कहते हैं कि 'स्वाध्यायोमोक्षशास्त्राध्ययनंप्रणवजपोवा'[5] अर्थात् जिस शास्त्र के अध्ययन मोक्षस्वरूप परम पुरुषार्थ की सिद्धि: हो रही हो उसे स्वाध्याय कहते हैं अथवा प्रणव का जप, प्रणव के जप से भी परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है इसीलिये आरात्से उपकारक होने के कारण उसका भी पुरुषार्थ में अन्तर्भाव है। इस प्रकार रघुवंश के इस श्लोक में योगदर्शन के कुछ प्रमुख बिन्दु प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार से चतुर्दश विद्याओं का उल्लेख महाकवि कालिदास किया उसका संक्षिप्त स्वूप इस प्रकार का है संस्कृत वाङ्गमय में चतुर्दश (चौदह) विद्याओं का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। महामुनि वरतन्तु ने अपने शिष्य कौत्स को चतुर्दश विद्याओं को पढ़ाया था। कौत्स के बार-बार कहने पर नाराज गुरु ने शिष्य कौत्स से एक-एक विद्या के लिए एक एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा मांग ली-

कोटिश्चतस्र:दश चाहरेति।[6]

ये चौदह विद्यायें निम्नवत् हैं--

अंगानि चतुरो वेदा मीमांसा न्यायविस्तर:।

पुराणंधर्मशास्त्रंचविद्या ह्येताश्चतुर्दश।।

चार वेद (ऋग, यजु:, साम, अथर्व), छ: वेदांग (व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, कल्प, शिक्षा, छन्द) मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र।

इन चौदह विद्याओं में व्याकरण भी आठ प्रकार का होता है-ब्राह्म, ऐन्द्र, याम्य, रौद्र, वायव्य, वारुण, सावित्र, वैष्णव। ज्योतिष भी फलित, गणित, संहिता भेद से तीन प्रकार का होता है। मीमांसा पूर्व और उत्तर भेद से दो प्रकार की होती है। धर्मशास्त्र के रूप में स्मृतियाँ सुप्रसिद्ध हैं। पुराण अट्ठारह हैं। चतुर्दश विद्याओं की ख्याति प्राचीनकाल से चली आ रही है।

अष्टादश विद्या

चतुर्दश विद्या में चार उपवेद मिलाने से अष्टादश विद्यायें होती हैं। ये हैं-आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थशास्त्र। जिस दिन से अष्टादश विद्याओं को लोग जानने लगेंगे उस दिन से भारत का सौभाग्य जाग जाएगा।

आयुर्वेदोधनुर्वेदोगांधर्वश्चैवते त्रय:।

अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादशैव ता:।।

कतिपय आचार्य अर्थशास्त्र की जगह वास्तुशिल्प या स्थापत्य को मान्यता देते हैं। अथर्ववेद से स्थापत्य वेद की उत्पत्ति हुई है।

इसी प्रकार यदि हम धर्म की दृष्टि से इस श्लोक को पढ़ते हैं तब यह पता चलता है कि यहां पर इमाम सदिश शास्त्रों में विस्तृत रूप से निरूपित किया गया जो याद विशेष है उसका भी निरूपण किया गया है। श्लोक के पहले चरण से जो याद प्रतीत होता है वह विश्वजीत नाम का याद है और विश्वजीत नाम के आज में सर्वस्व दक्षिण का विधान वेद सम्मत है इसलिए जब राजा रघु का वर्णन किया जाता है तब इसमें विश्वजीत नाम के याद का उल्लेख महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य में की है।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि न केवल विद्याएं न केवल स्वाध्याय आदि नियम अभी तू वैदिक यज्ञ का भी अनुष्ठान का संदेश महाकवि देना चाहते हैं।

इसी क्रम में जब हम रघुवंश के चतुर्थ सर्ग का अध्ययन करते हैं तो वहां पर भी राज्य सूर्य इत्यादि यज्ञों का नाम उल्लेख मिलता है। यहां पर केवल कालिदास कवियों का ही वर्णन नहीं है अपितु यदि हमारे वैदिक दृष्टि काव्य में निहित कर दी जाए तो प्रत्येक काव्य से भी हम कुछ ना कुछ विशेष प्राप्त कर सकते हैं। रघुवंश के आठवें स्वर्ग में जब इंदुमती के स्वयंवर के पश्चात जब दोनों का वियोग होता है तब उसे समय महाकवि कालिदास अत्यंत सरलता से ही आज के चरित्र के द्वारा साक्षात वेदांत तत्वों का ही उपदेश करते हैं। तथा च मानवजीवन में नैराश्यवाद के लिये स्थान नहीं है। जो लोग इसे मायिक बतला कर नि:सार तथा व्यर्थ मानते हैं उनका कथन किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं है। जो जीवन हम बिता रहे हैं तथा जिससे हम अपना अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं उसे सारहीन क्यों मानें? कालिदास का कहना है कि देहधारियों के लिये मरण ही प्रकृति है। जीवन तो विकृति मात्र है। जन्तु श्वास लेता हुआ यदि एक क्षण के लिये भी जीवित है तो यह उसके लिये लाभ है

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ।।[7]

मृत्यु प्राकृतिक है और जीवन एक आकस्मिक घटना, इस दशा में जो जीवधारी क्षण भर भी सांस ले सकें, क्षण भर भी जीवत रह सकें, उन्हें इतने ही को बहुत समझना चाहिए। यहां पर महाकवि कालिदास में साक्षात दार्शनिक विचारों को अत्यंत सरलतम भाषा में काव्य के रूप में पिरोया है जिसको पढ़ने के बाद में मनुष्य भाव विभोर होते हुए दार्शनिक तत्वों का अनुसंधान कर सके। तथा इस प्रकरण में हे ईश्वर इच्छा को प्रबल बताते हुए इंदुमती के वक्षस्थल पर गिरी हुई माल को अपने कंठ में धारण करने के बाद में राजा आज जब विलाप करते हैं तब ईश्वर इच्छा को ही कम से भी ज्यादा आकांक्षाओं से भी ज्यादा अन्य वस्तुओं की अपेक्षा भी श्रेष्ठ बताते हैं जैसे कि कहा गया है-

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।।[8]

यदि यह माला मारनेवाली है तो हृदय पर रखी हुई मुझको क्यों नहीं मारती, अथवा ईश्वर की इच्छा से विष भी कहीं पर अमृत हो जाता है और अमृत भी विष हो जाता है। प्रकार हम किसी भी काव्य का दार्शनिक रूप से यदि विश्लेषण देखेंगे तो निश्चित रूप से हमें कई ऐसे सारे तत्व मिल जाएंगे जो साक्षात भारतीय दर्शन को चित्रित करते हैं। भारतीय संस्कृति साहित्य में जितने भी काव्य महाकवियों कवियों के द्वारा लिखे गए हैं सारे ही काव्य का एक न एक कोई विशिष्ट उद्देश्य रहा है जिससे वह समाज को मनोरंजन के माध्यम से शिक्षित कर सकें दार्शनिक विचारों को लोक जनता तक पहुंच सकें वैदिक विचारों को अवगत करा सकें।

शोधच्छात्रा
एमिटी विश्वविद्यालय, हरियाणा
सुप्रिया संजू
पर्यवेक्षिका
स प्रा.-एमिटी विश्वविद्यालय, हरियाणा

संदर्भ सूची

1. पाणिनीयधातुपाठभ्वा.
2. पाणिनीय- अष्टाध्यायी (ल्युट् च)
3. रघुवंशमहाकाव्यम् 5-1
4. तैत्तियीय आरण्यक 2/15/7
5. योगसूत्रभाष्यम्
6. रघुवंश 5
7. रघुवंशमहाकाव्यम् 8-47
8. रघुवंशमहाकाव्यम् 8-46

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. रघुवंश महाकाव्यम्- चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस बनारस 1013
2. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत भवन
3. संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थानम्
4. तैत्तिरीय आरण्यकम्डा- जमुना पाठकः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस बनारस
5. आपस्तम्बश्रौत सूत्रम्, डा. जमुना पाठकः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस बनारस

शोध-पत्र

पवन कुमार

गंगा घाटी में नए धार्मिक संप्रदायों के उद्भव और विकास पर व्यापार और वाणिज्य का प्रभाव : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

शोध सार :

गंगा घाटी में व्यापार और वाणिज्य ने नवीन धार्मिक विचारों के प्रचार एवं प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आर्थिक गतिविधियाँ मुख्यत: सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आदान-प्रदान के साथ एकीकृत करती थी। बौद्ध, जैन एवं अन्य नवीन मत-पंथ गंगा घाटी में छठी शताब्दी के पश्चात अस्तित्व में आये जिन्हें व्यापारियों नें संरक्षण दिया। व्यापारिक मार्गो एवं बंदरगाहों के पास स्तूप, मठ और विहारों का विकास हुआ। जिस कारण नवीन उदित विचारों का व्यापारिक मार्गो एवं भ्रमणशील व्यापारियों के माध्यम से ना केवल उपमहाद्वीप बल्कि सुदूर देशों में प्रसार संभव हुआ। बंगाल को तिब्बत, चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया से जोड़ने वाले भूमि मार्गो के व्यापक नेटवर्क ने धार्मिक विश्वासों के प्रसार में मदद की, जिससे नए धार्मिक दर्शन के लिए उपजाऊ वातावरण बना। अफगानिस्तान और ईरान जैसे दूरदराज के स्थानों के साथ इन व्यापार मार्गो का परस्पर जुड़ाव धार्मिक आदान-प्रदान पर व्यापार एवं व्यापारिक वर्ग के बहुआयामी प्रभाव को रेखांकित करता है। इस शोध पत्र के माध्यम से में व्यापारख्रवाणिज्य और नवीन धार्मिक विचारों के प्रसार के मध्य बहुआयामी संबंधों को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समझाने के प्रयास करूँगा।

प्रमुख शब्द : गंगा घाटी, व्यापार-वाणिज्य, व्यापारिक मार्ग, स्तूप, मठ, उपमहाद्वीप

भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी ईसा पूर्व एक महत्वपूर्ण चरण था। इस समय मध्य गंगा घाटी में सामाजिक आर्थिक और धार्मिक परिवर्तन का एक ऐसा दौर आया जिसने भारतीय इतिहास को व्यापक रूप से प्रभावित किया। छठी शताब्दी ईसा पूर्व मध्य गंगा घाटी के मैदान में वैदिक धर्म के विरोध में अस्तित्व में आए गैर वैदिक धर्म संप्रदाय वास्तव में एक सामाजिक प्रतिक्रिया थे जो लोगों की बढ़ती आर्थिक महत्वाकांक्षाओं का प्रतिफल कहे जा सकते हैं क्योंकि इन धर्मों का विकास हिंदू धर्म में व्याप्त कुरीतियों एवं ब्राह्मण सर्वोच्चता के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। अत: यह नवीन धर्म वास्तव में सुधारवादी धर्म थे। जिन्होंने समानता, स्वतंत्रता और मानव कल्याण पर बल दिया चूँकि इन नवीन धर्म के उदय में आर्थिक कारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। अत: इनके सिद्धांतों में विभिन्न ऐसी आर्थिक गतिविधियों को स्वीकृति प्रदान की गई जिनकी पारंपरिक वैदिक धर्म में मनाही थी। इस कारण व्यापारी वर्ग का पर्याप्त समर्थन गैर वैदिक धर्म संप्रदाय को हुआ प्राप्त हुआ। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में मध्य गंगा घाटी व्यापार वाणिज्य में प्रगति, नगरीकरण और गैर वैदिक धर्म परंपरा के उद्भव और विकास की साक्षी बनी। यह परिवर्तन मुख्य रूप से मध्य गंगा घाटी में वैदिक उत्तर काल से प्रारंभ हुए लौह तकनीक के प्रयोग का परिणाम थे। लौह तकनीक के प्रयोग में राजनैतिक क्षेत्र विस्तार राजनीतिक क्षेत्र विस्तार और कृषि योग्य भूमि के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया लव तकनीकी कृषि में उपयोग में अधिशेष उत्पादन आधारित नवीन आर्थिक व्यवस्था को जन्म दिया जिसने मध्य गंगा घाटी में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गतिशीलता में वृद्धि की। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहां एक ओर छठी शताब्दी ईसा पूर्व में समाज पारंपरिक वैदिक धर्म की

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

रूढ़िवादी परंपराओं में जकड़ा हुआ था वहीं दूसरी ओर समाज नवीन सांस्कृतिक और आर्थिक परिवर्तनों से भी गुजर रहा था। जिस कारण प्राचीन वैदिक धर्म और नवोदित हुए धर्म संप्रदायों के मध्य वैचारिक संघर्ष अवश्य संभावित था। इन नवोदित हुए धार्मिक संप्रदायों ने पारंपरिक वैदिक धर्म की कुरीतियों जैसे ब्राह्मण सर्वोच्चता आधारित वर्ण विभाजन, यज्ञ, कर्मकांड, व्यापारिक वर्ग पर आर्थिक प्रतिबंध आदि को उजागर कर उनको वैचारिक चुनौती प्रस्तुत की।

यह नवोदित धर्म संप्रदाय उस वैचारिक संघर्ष का प्रतिफल थे जो समाज ने वैदिक धर्म की रूढ़िवादी परंपराओं की जगह से स्वयं को मुक्त कराने के लिए किया था। यह सभी नवोदित विचारधाराएं प्रकृति में सुधारवादी थी जिनकी मूल में समानता, स्वतंत्रता और धर्म की आडंबर रहित व्याख्या निहित थी। साहित्यिक स्रोतों से हमें छठी शताब्दी ईसा पूर्व में ऐसे लगभग चौसठधर्म संप्रदायों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। संप्रदायों में बौद्ध और जैन दो ऐसे संप्रदाय थे जिसने जनमानस को ना केवल धार्मिक रूप से प्रभावित किया बल्कि अपने सिद्धांतों को तत्कालीन समाज के आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया। चूंकि इन धर्म का उदय वैदिक धर्म की कुरीतियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। अत: वर्ण विभाजन से असंतुष्ट वर्गों के लिए समानता के सिद्धांत के आधार पर धर्म के द्वार सभी वर्गों के लिए खोल दिए गए और धर्म की आडंबर रहित सरल व्याख्या प्रस्तुत की जिसमें व्यक्ति स्वयं के प्रयत्नों से निर्वाण या मोक्ष प्राप्त कर सकता था। इन नवोदित धर्मों की प्रमुख विशेषता तत्कालीन समाज की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल नियमों का प्रतिपादन करना था क्योंकि पारंपरिक वैदिक धर्म में व्यापार वाणिज्य पर अत्यधिक प्रतिबंध थे और आर्थिक संसाधनों पर मुख्य रूप से ब्राह्मण वर्ग का नियंत्रण था। जबकि मुख्य करदाता वैश्य वर्ग था अत: इस आय के इस असमान वितरण ने निम्न वर्ग में आर्थिक असुरक्षा की भावना भर दी। इस असुरक्षा की भावना का समाधान वैश्य वर्ग और शूद्र वर्ग को बौद्ध एवं जैन धर्म की उदारवादी और समतामूलक व्याख्याओं में दिखाई दिया। व्यक्तिगत संपत्ति की सुरक्षा, प्रतिबंध रहित व्यापार वाणिज्य की अनुमति, आय के समान वितरण के सिद्धांतों ने समाज में इन नवोदित धर्मों को लोकप्रिय बना दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि इन धर्मों का सामाजिक आधार बहुत तेजी से बड़ा। इन नवीन धर्मों के उद्भव एवं विकास में आर्थिक कारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई उनमें भी व्यापार वाणिज्य और व्यापारी वर्ग का इन नवीन धर्मों के विकास में योगदान सर्व प्रमुख रहा जिसकी व्याख्या में विभिन्न प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतों के अध्ययन के माध्यम से करने का प्रयास करूंगा।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में मध्य गंगा घाटी का सामाजिक और आर्थिक परिदृश्य

उत्तर वैदिक काल में समाज का वर्ण आधारित विभाजन विद्यमान था जिसके अंतर्गत समाज को चार वर्णो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित किया गया था और प्रत्येक वर्ण कि समाज में एक सुपरिभाषित भूमिका और कार्य नियत था। वर्ण निर्धारण का आधार उत्तर वैदिक काल में जन्म था। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण व्यवस्था में शक्ति प्राप्त वर्ग थे जिन्हें समाज में विशेष अधिकार प्राप्त थे। समाज में तीसरा वर्ग वैश्यों का था जिनका मुख्य कार्य कृषि, पशुपालन और व्यापार वाणिज्य से संबंधित था। वैश्य वर्ग मुख्य रूप से करदाता वर्ग था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्गों को द्विज की संज्ञा दी जाती थी जिसका अर्थ है दूसरा जन्म लेने वाला। पारंपरिक वैदिक धर्म में ऐसी मान्यता है कि व्यक्ति का दूसरी बार जन्म उसके यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात होता है अत: इन तीन वर्गों को दूसरी बार जन्म लेने वाला अर्थात् द्विज की संज्ञा दी जाती थी। वर्ण व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर शूद्र आते थे। जिनका कार्य दास और खेतिहर मजदूर के रूप में कार्य करना था। इस प्रकार समाज के वर्ण आधारित विभाजन से निश्चित ही वैश्य और शूद्र वर्ग असंतुष्ट थे क्योंकि उनको क्योंकि उनकी उनके वर्ण निर्धारण में कोई भूमिका नहीं थी उनका वर्ण उनके जन्म से निर्धारित होता था। जिन्हें समाज में स्वतंत्रता प्राप्त थी और ना ही समानता। हालांकि वैश्य और शूद्र वर्ण व्यवस्था में अपनी निम्न स्थिति से असंतुष्ट थे परंतु उनके भीतर वर्ण व्यवस्था का विरोध करने की वैचारिक और आर्थिक क्षमता मौजूद नहीं थी। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में ब्राह्मण सर्वोच्चता वाले हिंदू को चुनौती मुख्यत: क्षत्रिय वर्ग से मिली जो शासक होने के बावजूद भी वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों से नीचे पायदान पर थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि छठी शताब्दी ईसा पूर्व में समाज के वर्ण आधारित

विभाजन से ब्राह्मणों के अलावा अन्य तीनों वर्ग असंतुष्ट थे और स्वयं को इस वर्ण व्यवस्था की जकड़न से मुक्त कराने का मार्ग ढूंढ रहे थे।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में मध्य गंगा घाटी की आर्थिक परिस्थितियों पर नजर डालें तो हम पाते हैं कि उत्तर वैदिक काल से ही मध्य गंगा घाटी में लोह तकनीक उपयोग में लाई जा रही थी जिसका सीधा प्रभाव कृषि योग्य भूमि के विस्तार और कृषि में अधिशेष उत्पादन आधारित नवीन अर्थव्यवस्था के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा था। इस अधिशेष आधारित नवीन कृषि अर्थव्यवस्था ने व्यापार वाणिज्य और नगरीकरण के विकास को आधारभूत ढांचा प्रदान किया। इन बदलते आर्थिक परिदृश्यों ने निश्चित रूप से सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं पर भी अपना प्रभाव दिखाया। वर्ण व्यवस्था में कृषि और व्यापार वाणिज्य का कार्य मुख्य रूप से वैश्यों के द्वारा किया जाता था जो समाज में अपनी निम्न स्थिति से असंतुष्ट थे। इस सामाजिक असंतोष के साथ-साथ पारंपरिक वैदिक धर्म व्यापार वाणिज्य पर विभिन्न प्रतिबंध आरोपित करता था जैसे ऋण देने की मनाही, समुद्री व्यापार पर प्रतिबंध है आदि ने व्यापार वाणिज्य की प्रगति को बाधित कर रखा था। इस आर्थिक जड़ता को तोड़ने के लिए वैश्य और शूद्रों को क्षत्रिय वर्ग के द्वारा वैचारिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया जो स्वयं भी हिंदू धर्म की ब्राह्मण सर्वोच्चता था और विशेष अधिकारों से असंतुष्ट थे।

भारतीय उपमहाद्वीप छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक लगभग पूर्ण रूप से वैदिक धर्म और संस्कृति का प्रतिनिधि था। पारंपरिक वैदिक धर्म एक बहूदेववाद और कर्मकांड प्रधान धर्म था। हिंदू धर्म वर्ण-जाति आधारित एक ऐसी सामाजिक संरचना की संकल्पना का प्रतिपादन किया जिसमें धर्म का नियंत्रण मुख्य रूप से ब्राह्मण वर्ग में समाहित था। धर्म के इस नियंत्रण ने ना केवल ब्राह्मणों की सामाजिक सर्वोच्चता को स्थापित किया बल्कि उन्हें बहुत से आर्थिक और राजनीतिक विशेषाधिकार भी प्रदान किए। हिंदू धर्म एक कर्मकांड प्रधान धर्म था जिसमें निम्न वर्गों की भागीदारी नगण्य थी। और साथ ही इन कर्मकांड में आर्थिक संसाधनों का अपव्यय बड़ी मात्रा में किया जाता था। साहित्यिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि बड़े यज्ञ एवं हवनों में सैकड़ों पशुओं की बलि दी जाती थी। और जो आय कर के रूप में निम्न वर्गों से प्राप्त की जाती थी उसे दान दक्षिणा स्वरूप ब्राह्मणों को दे दिया जाता था। इस धार्मिक अनदेखी और आय के असमान वितरण ने निम्न वर्ग के भीतर धार्मिक असंतोष को जन्म दिया जिससे मुक्त होने के लिए वह नई वैचारिक धर्म परंपराओं की ओर आकर्षित हुए।

इस प्रकार छठी शताब्दी ईसा पूर्व की भारतीय सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करने से एक तथ्य तो स्थापित हो जाता है कि पारंपरिक वैदिक धर्म में बहुत सी शोषक और भेदभाव पूर्ण नीतियां या सिद्धांत विद्यमान थे। जैसे जन्म आधारित वर्ण विभाजन, धार्मिक भेदभाव, आर्थिक संसाधनों का असमान वितरण और व्यापार-वाणिज्य पर प्रतिबंध जिसने सामान्य जनमानस को सामाजिक और आर्थिक असुरक्षा के बंधन में जकड़ रखा था। भारतीय समाज के निम्न वर्ग को इन सामाजिक-आर्थिक बंधनों से मुक्त करने के लिए यह नवोदित धर्म संप्रदाय एक आशा की किरण लेकर आए। इन नवोदित धर्म संप्रदाय के उद्भव एवं विकास में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक कारणों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जिनमें से व्यापार-वाणिज्य और व्यापारी वर्ग में मुख्य रूप से इन धर्मों के उदय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया।

सामाजिक धार्मिक परिवर्तन के वाहन के रूप में व्यापार

वैदिक काल में कृषि कार्यों में लौह के प्रयोग ने कृषि क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन का सूत्रपात किया। कृषि क्षेत्र में लौह तकनीक के प्रयोग में प्रारंभिक रूप से दो परिवर्तन किए गए। प्रथम कृषि योग्य भूमि का विस्तार और द्वितीय कृषि उत्पादन में उचित उत्पादन की स्थिति। कृषि आधारित नवीन व्यवस्था ने मुख्य रूप से गंगा घाटी में आर्थिक गतिविधियों को प्रेरित किया और छठी शताब्दी ईसा पूर्व में भारतीय भौगोलिक परिदृश्य को पूर्ण रूप से बदल दिया। व्यापार वाणिज्य में प्रगति, श्रम का विभाजन और विशिष्टता ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व में गंगा घाटी की नवपाषाणक ग्रामीण क्षेत्रों का रूपांतरण किया। गंगा घाटी में हुए इस नगरीकरण को फिर से द्वितीय नगरीकरण की संज्ञा दी गई है। हमें विभिन्न साहित्यिक स्रोतों से तत्कालीन समय के प्रमुख नगरों का उल्लेख मिलता है। बुद्ध काल में छह बड़े नगर या महानगर थे, राजगृह, चंपा, काशी, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी। यह नगर केवल व्यापारिक गतिविधियों के केंद्र में नहीं था, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक

गतिविधियों का भी केंद्र था। इस बढ़ते व्यापार वाणिज्य का ही परिणाम था कि समाज में वस्तु विनिमय के स्थान पर मुद्रा व्यवस्था शुरू हुई प्राचीनतम भारतीय सिक्के आहत मुद्राएं कहलाते थे। आरंभ में चांदी के सिक्के बनाये जाते थे परंतु तांबे के भी होते थे। पंचमार्क सिक्के में धातु के छल्ले पर हाथी, मछली, सांड, अर्धचन्द्र की आकृतियाँ बनाई जाती थीं। ये पूर्वी उत्तर प्रदेश, मगध और तक्षशिला में विशेष रूप से पाए गए हैं। कुछ अन्य कहानियों की भी चर्चा हुई है जैसे कि क्रोध, पाद, मसाला, काकणिक, निष्कर्ष। नगरीकरण और मुद्रा व्यवस्था के प्रारंभ में व्यापार वाणिज्य की प्रकृति और स्वरूप दोनों को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया गया। जहां उत्तर वैदिक काल में व्यापार वाणिज्य का स्वरूप स्थानीय और वस्तु विनिमय का प्रचलन था। छोटी सी शताब्दी ईसा पूर्व में हम स्थानीय व्यापार के साथ-साथ थे। दूर-दराज के व्यापार के भी प्रमाण मिलते हैं। इसके साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों को उनकी आवश्यकता के अनुरूप तालिकाओं का निर्माण करके भेजा गया था। विभिन्न साहित्यिक स्रोतों से हमें व्यापार की जाने वाली चीजें और उनसे संबंधित क्षेत्रों की जानकारी प्राप्त होती है। इस बढ़ते व्यापार वाणिज्य ने व्यापारिक गतिविधियों के निर्माण को भी प्रेरित किया जो न केवल आर्थिक बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकारों में भी वृद्धि की। इन बढ़ती आर्थिक गतिविधियों ने श्रम के विभाजन और विशेष कारणों पर बल दिया। छठी शताब्दी ईसा पूर्व उत्तर भारत में विशेष शिल्पों से संबंधित विभिन्न श्रेणी संगठन अस्तित्व में आए जो समाज में आर्थिक प्रतिष्ठा प्राप्त वर्ग के रूप में पहचाने जाते थे।

शिल्प और श्रेणी संगठन

श्रम के विभाजन और विशेषताओं ने नगरों में एक विशेष वर्ग के उदय की पृष्ठभूमि तैयार की जो विभिन्न शिल्प कलाओं में दक्ष थे। इन शिल्पकला से संबंधित लोग धीरे-धीरे एक वर्ग के रूप में संगठित हो गए हैं जिन्हें श्रेणी संगठन के रूप में जाना जाता है। हमें छठी शताब्दी ईसा पूर्व में शिल्प श्रेणी के लेखकों के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हुई है। बौद्ध ग्रन्थ मिलिंदपन्हो से हमें लगभग साठ प्रकार के शिल्पों एवं उनसे जुड़े श्रेणीबद्ध लेखों की जानकारी प्राप्त होती है। भारत में शिल्प पंक्तियों के विकास का इतिहास काफी प्राचीन माना जाता है। कुछ इतिहासकार श्रेणीबद्ध लेखों का प्रारंभ छठी शताब्दी ईसा पूर्व में हुड़प्पा काल से मानते हैं। हमें पूर्व में बौद्ध एवं जैन धर्म ग्रंथों से विभिन्न श्रेणियों के विषयों की जानकारी मिलती है। इस काल में राजगृह में अठारह प्रकार के शिल्पों की चर्चा की गई है। शिल्पों का केवल विशिष्टताकरण न हुआ। शिल्पों का क्षेत्रीयकरण भी हुआ। वैशाली के सदलपट में कुंभकारों की पांच सौ दुकानें थीं। झुलाओं की भी अलग-अलग बस्तियाँ थीं जो झुलाओं का वार्ड तंतु बिधान कहती थीं। हाथी दांत का काम करने वाले दंतकरवीथी कहलाते थे। रंगरेजों का कार्य करने वाले रंगरेजकार विथि कहलाते थे। शिल्पकला में विभिन्न आर्थिक, प्रशासनिक, न्यायपूर्ण, धार्मिक एवं लोक कल्याण संबंधी कार्य किए जाते थे। देश के आंतरिक एवं बाहरी व्यापार में भागीदारी के अंतर्गत विभिन्न संगठनों के आर्थिक कार्यों में, श्रेणीबद्ध संगठन स्वयं की मुद्राएं भी चलाते थे। नालंदा, कौशाम्बी और वैशाली आदि प्राचीन नगरों में विभिन्न संगठनों से संबंधित मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। नासिक और मथुरा अभिलेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि श्रेणी संगठन हित पर ऋण देते थे। इसके साथ-साथ विभिन्न धार्मिक एवं लोक कल्याण के कार्य भी किए गए। में भी संलिप्त रहता था। गुप्त काल के मंदसौर अभिलेखों से पता चलता है कि रेशम बुनकरों की एक श्रेणी के द्वारा सूर्य मंदिर का निर्माण किया गया था, इसी प्रकार हमें विभिन्न स्रोतों के माध्यम से इस बात की जानकारी प्राप्त हुई थी कि श्रेणियो को विभिन्न प्रशासन एवं न्यायिक अधिकार भी प्राप्त थे।। नगरों के साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्रों में भी आर्थिक रूप से संपन्न एक नवीन सामाजिक समूह सामने आ रहा था। जिसे गढ़पति कहा जाता था। वैदिक काल में गढ़पति का उपयोग घर के स्वामी के रूप में होता था, लेकिन छठी शताब्दी ईसा पूर्व के पश्चात गढ़पति शब्द का प्रयोग विश्व रूप से ग्रामीण क्षेत्र के प्रभावशाली व्यक्ति या भूपति के रूप में किया जाने लगा था। बौद्ध ग्रंथों में गहपति मेंदक की चर्चा होती है, जिसने अपने खर्चे से शाही सेना का वेतन दिया था और उसने बौद्ध संघ को बारह सौ पचास गाय दान दी थी, इसी प्रकार कई अन्य धन संपन्न गहपतियो की जानकारी प्राप्त होती है।

वैचारिक क्रांति के सूत्रधार आर्थिक कारक

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में मध्य गंगा घाटी संपूर्ण भारतीय महाद्वीप की आर्थिक गतिविधियों का केंद्र थी। कृषि अधिशेष, व्यापार वाणिज्य की प्रगति, श्रेणी संगठनों

का विकास, संपन्न व्यापारी वर्ग का उदय, मुद्रा व्यवस्था का प्रारंभ, नगरीकरण का विकास आदि मध्य गंगा घाटी की तत्कालीन चारित्रिक विशेषताएं थीं। आर्थिक विशेषताओं ने सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में गतिशीलता का संचार किया क्योंकि व्यापार-वाणिज्य प्रगति कर रहा था। इस कारण जहां एक ओर कृषि एवं व्यापार से संबंधित वर्ग आर्थिक रूप से संपन्न हो रहा था वहीं दूसरी ओर पारंपरिक वैदिक धर्म की जड़ता आर्थिक प्रगति पर अपने नियमों से प्रतिबंध लगा रही थी समाज में नए-नए उभरे व्यापारी और कृषक वर्ग के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती व्यक्तिगत संपत्ति की सुरक्षा करना थी। पारंपरिक वैदिक धर्म की रूढ़िवादी मान्यताओं जैसे समुद्र व्यापार का निषेध, ब्याज पर ऋण देने की मनाही, करो का अत्यधिक दबाव के कारण इस नवोदित संपन्न व्यापारिक वर्ग का ब्राह्मण सर्वोच्चता आधारित हिंदू धर्म से मोहभंग होने लगा था। अतः उन्होंने ऐसी गैर वैदिक विचारधारा को समर्थन दिया जो उन्हें वैदिक धर्म की जड़ता से मुक्ति दिला सके और व्यापार- वाणिज्य करने का अवसर, व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार को वैधता प्रदान कर सके। इसी क्रम में छठी शताब्दी ईसा पूर्व गंगा घाटी के मैदान वैचारिक क्रांति के गवाह बने जिनको आर्थिक कारकों ने प्रेरित किया था। नवीन गैर वैदिक धर्म संप्रदायों ने लोगों की आर्थिक स्थिरता और सामाजिक समानता की पैरवी की जिसका परिणाम मध्य गंगा घाटी की नवीन आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक संरचना सामने आई।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व मध्य गंगा घाटी के मैदान में वैदिक धर्म के विरोध में अस्तित्व में आए गैर वैदिक धर्म संप्रदाय वास्तव में एक सामाजिक प्रतिक्रिया थी जो लोगों की बढ़ती आर्थिक महत्वाकांक्षाओं का प्रतिफल कहे जा सकती हैं क्योंकि इन धर्मों का विकास हिंदू धर्म में व्याप्त कुरीतियों एवं ब्राह्मण सर्वोच्चता के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। अतः यह नवीन धर्म वास्तव में सुधारवादी धर्म थे। जिन्होंने समानता, स्वतंत्रता और मानव कल्याण पर बल दिया चुकि इन नवीन धर्म के उदय में आर्थिक कारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। अतः इनके सिद्धांतों में विभिन्न ऐसी आर्थिक गतिविधियों को स्वीकृति प्रदान की गई जिनकी पारंपरिक वैदिक धर्म में मनाही थी। इस कारण व्यापारी वर्ग का पर्याप्त समर्थन गैर वैदिक धर्म संप्रदाय को हुआ प्राप्त हुआ।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में मध्य गंगा घाटी एक ऐसी वैचारिक क्रांति की साक्षी बनी जिसमें प्राचीन वैदिक धर्म की पूर्व मान्यताओं को नवोदित गैर वैदिक धार्मिक विचारधाराओं ने चुनौती प्रस्तुत की। इन विचारधाराओं के उद्भव एवं विकास मैं विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक कारकों ने अपनी-अपनी भूमिका निभाई। परंतु प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतो के अध्ययन के आधार पर निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि इन नवीन विचारधाराओं के उद्भव एवं विकास में मुख्य रूप से बढ़ते व्यापार-वाणिज्य और आर्थिक गतिविधियों ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। जिसमें सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक कारकों ने सहायक की भूमिका।

पीएच.डी. शोधार्थी
बौद्ध अध्ययन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ ग्रंथ

- बाशम, ए.एल..., दा वंडर दैट वास इंडिया, लन्दन: सिडविक एंड जानसन, 1954.
- क्रेवन, आर., इंडियन आर्ट, लन्दन: थेम्स एंड हडसन, 1997
- शर्मा, आर.एस. (1965) इण्डियन फ्यूडिलिस्म. दिल्ली: मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड
- शर्मा, आर.एस. (1987) अर्बन डिके इन इण्डिया (300 एडी-1000 एडी) दिल्ली: मुंशी लाल मनोहर लाल पब्लिशर एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर
- शर्मा, आर.एस. (2011) इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ अर्ली इण्डिया, दिल्ली: वीवा बुक्स
- चक्रवती, आर. (2001) ट्रेड इन अर्ली इण्डिया. दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
- चम्पकलक्ष्मी, आर. (1996) ट्रेड, आइडियोलॉजी एंड अर्बनाइजेशन: साउथ इण्डिया. दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
- चट्टोपाध्याय, बी.डी. (1994) दा मेकिंग ऑफ अर्ली मेडिवल इण्डिया. दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
- व्हीटले, पी. (1971) पिवोट ऑफ द फोर क्वार्टर. एडनबर्ग : एडनबर्ग यूनिवर्सिटी प्रेस
- फिनले, एम.आई. (1982) एन्शियेंट सिटी. न्यूयार्क: बी.डी. सॉ एण्ड रिचर्ड सेलर

स्मृति यादव

भुवनेश्वर की कहानियों में चित्रित सामाजिक विसंगति

संगति शब्द में 'वि' उपसर्ग लगाकर 'विसंगति' शब्द बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है-अर्थहीनता, असंगति या अनमेलपन। सर्वप्रथम, फ्रांस के समाजशास्त्री दुर्खीम ने 1893 में अपनी पुस्तक 'द डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी' में 'एनोमी' की अवधारणा प्रस्तुत की। वहीं से हिंदी में विसंगति शब्द अस्तित्व में आया। इसके लिए अंग्रेजी में प्रचलित 'एब्सर्ड' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है।

रॉबर्ट मर्टन के अनुसार, **''जब सामाजिक संरचना की कोई असन्तुलित अवस्था व्यक्ति पर एक प्रकार का निश्चित दबाव डालती है और व्यक्ति सामाजिक आशाओं के प्रतिकूल आचरण करता है तो उस स्थिति को विसंगति कहते हैं।''**[1]

दुर्खीम के अनुसार, **''एनोमी समाज की एक ऐसी स्थिति है जिसमें स्थापित मूल्यों और मानदंडों की एक निश्चित प्रणाली का विघटन जो पहले पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था का समर्थन करता था, अब राज्य द्वारा तैयार और अपनाए गए नए आदर्शों से मेल नहीं खाता है।''**[2]

डॉ. रामसेवक सिंह का कथन है, **''एब्सर्ड मंच उस विश्वव्यापी स्वत: स्फूर्त आंदोलन का अंग है, जिसमें जीवन की अपरिहार्य विडंबनाओं तथा उसकी निरर्थकता से क्षुब्ध मनुष्य की असहाय स्थिति का चित्रण ही प्रधान उद्देश्य है।''**[3]

सामान्य शब्दों में, जीवन जीने के सामान्य नियमों से असहमति होने और तालमेल न बिठा पाने की स्थिति विसंगति कहलाती है।

जीवन के उद्देश्यहीन और निरर्थक होने की भावना विसंगति का मूल है। मनुष्य जीवन की एकरूपता के प्रति विद्रोह तो करना चाहता है पर विद्रोह के बाद नए नियम या लक्ष्य क्या होंगे इस पर असमंजस बना रहता है। इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि यह पुराने नियमों के अस्वीकार के बाद और नए मूल्यों के बनने के बीच अनिश्चय की स्थिति है। यह अवस्था मनुष्य के जीवन और समाज में अराजकता पैदा करती है। इससे सामाजिक विसंगति को बढ़ावा मिलता है।

सामाजिक विसंगति समाज में लोगों के बीच एकरूपता बनाए रखने के लिए बनाए गए स्वीकृत आदर्शों के प्रति विचलित व्यवहार की प्रक्रिया है। जब समूह बरसों से चली आ रही प्रथाओं को कल्याणकारी समझकर सामाजिक स्वीकृति प्रदान कर देता है तो ऐसी प्रथाओं को रूढ़ियां कहते हैं। पर जब रूढ़ियां व्यक्ति को उसकी पहचान और व्यक्तिगत मूल्यों से वंचित कर देती हैं। तब लोगों में उन नियमों के प्रति अविश्वास होने लगता है। वे समाज से कट जाते हैं। अकेलापन और अजनबीयत उनके व्यवहार का हिस्सा बन जाता है। इन सर्व-स्वीकृत परंपराओं से विचलन को ही सामाजिक विसंगति कहा जाता है।

सामाजिक विसंगतियां तब जन्म लेती हैं जब व्यक्ति को जीवन उद्देश्यहीन प्रतीत हो, व्यवस्था का औचित्य सिद्ध न हो अथवा व्यक्तिगत स्वतंत्रता बाधित हो। सन् 1940 तक भारत परम्पराओं से संचालित था। प्राचीन आदर्शों और रीति रिवाजों का पालन आस्थापूर्वक होता था।

लोगों में अंग्रेजी शासन की गुलामी से आजादी पाने के लिए राष्ट्रवादी भावना प्रबल थी। परिवेश, जाति और संप्रदाय लोगों में एकता बनाए रखने के लिए अहम् थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जो नई परिस्थितियों की आस लगाए बैठे थे वह अधिकांशतः युवा वर्ग था। पर इसके विपरीत, स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रवादी भावना क्षीण होती गई। सामाजिक एकता का कोई उद्देश्य नहीं रहा। जमींदारी प्रथा नष्ट हो रही थी। जमीन से वंचित ग्रामीणों और मध्यवर्ग ने रोजी के लिए बड़े नगरों का रुख किया। महानगरीय जीवन ने लोगों को आकर्षित किया। जिस दायित्वविहीन लालसा से लोग प्रेरित होकर नगर आए उन्हें यहां की चकाचौंध में अपना अस्तित्व विलीन होता दिखने लगा। वे मशीनी भीड़ का हिस्सा बन गए। समाज के लिए प्रतिबद्धता न होने से दायरे सिमटते गए। जिससे अकेलापन, भय, अवसाद, मृत्यु बोध, रिक्तता, व्यवस्था से मोहभंग जैसी सामाजिक विसंगतियों ने जन्म लिया।

डॉ. अमरनाथ ने लिखा है, **''व्यक्ति निरर्थक मेहनत कर रहा है। उसके ऊपर नीरस और एकरस जिंदगी लाद दी गई है। मशीनी विकास ने उसको बिलकुल पराधीन कर दिया है। व्यक्ति का जीवन अनिश्चित और संकटग्रस्त है। विनाश के आतंक ने उसमें निराशा, भय, कुंठा और संत्रास भर दिया है। उसने नैतिकता के बंधन तोड़ दिये हैं। उसका आंतरिक और बाह्य यथार्थ अलग-अलग है और दोनों की टकराहट से विसंगतियां जन्म ले रही हैं।''[4]**

समाज में आए इन सभी परिवर्तनों का प्रभाव वहां के साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था। इससे पहले हिंदी साहित्य में आदर्शवाद और स्वच्छंदतावाद अपनी जड़ें जमाए हुए था। उन शुरुआती लेखकों में जैनेंद्र, अज्ञेय, भुवनेश्वर, यशपाल, मोहन राकेश और धर्मवीर भारती का नाम लिया जाता है जिन्होंने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण अपनी रचनाओं में किया।

साहित्य समाज की प्रतिच्छाया है। यह मनोरंजन के साथ-साथ व्यक्ति की अनुभूतियों को कलात्मक रूप में प्रस्तुत कर संदेश देने का कार्य भी करता है। कहानी हिंदी की एक आधुनिक विधा है जिसका अर्थ है-कथा कहना। 'कहना' से कहानी शब्द बना। कहानी ऐसी रचना है जहां किसी घटना या अनुभव को छोटे कलेवर में सुगठित ढंग से प्रस्तुत किया जाए।

गुलाबराय हाड़े ने हिन्दी कहानी के बारे में लिखा है- **''वर्तमान समय में कहानी अभिव्यक्ति की एक सशक्त और समर्थ विधा है। जीवन के समांतर चलते यथार्थ को कविता उतना नहीं कह पायी जितना हिन्दी कहानी ने किया।''[5]**

कहानी विधा में शब्द सीमा होती है। कहानी जीवन के किसी एक प्रसंग या घटना के इर्दगिर्द ही रहती है। उस सीमा के भीतर ही लेखक को अपने विचार इस तरह बुनने होते हैं जिसमें वह पाठक को पूर्णता में प्राप्त हो। कहानी की खासियत उसका शिल्प ही है। इसके कथानक में जितनी तीव्रता होती है, भाव को लेकर उतनी ही अधिक सूक्ष्मता। किसी महत्वपूर्ण संदेश को कम समय में गहन अनुभूति के साथ प्रस्तुत करने के कारण कहानी विधा वर्तमान में सबसे अधिक सार्थक है।

आधुनिक हिंदी साहित्य में लीक से हटकर रचना करने वाले लेखकों में भुवनेश्वर का नाम अग्रणी है। वे हिंदी के प्रसिद्ध एकांकीकार और लेखक हैं। उनकी प्रसिद्धि का कारण उनके एकांकी हैं। उन्हें आधुनिक एकांकी का जनक माना जाता है। स्ट्राइक, कारवां, तांबे के कीड़े, श्यामा और सिकंदर आदि उनके प्रमुख एकांकी हैं। प्रेमचंद भुवेनश्वर के एकांकी संग्रह 'कारवां' को 'हिंदी साहित्य के इतिहास में एक नई प्रगति का प्रवर्तक मानते थे। इसके अलावा उन्होंने कुछ कहानियां भी लिखीं जिस पर बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है। हालांकि, कुछ विद्वान 'हंस' में 1938 में प्रकाशित 'भेड़िए' कहानी को आधुनिक हिंदी की प्रथम कहानी मानते हैं। उनके नाटकों पर जॉर्ज बर्नार्ड शॉ और कहानियों पर ऑस्कर वाइल्ड का प्रभाव है। भुवनेश्वर का रचना काल प्रेमचंद के समय पर रहा लेकिन उनकी शैली और विषयवस्तु दोनों ही प्रेमचंद से अलग थे। उन्होंने समाज की जगह व्यक्ति की सत्ता को ज्यादा महत्वपूर्ण माना। आधुनिक कहानी की प्रवृत्तियां जैसे वैयक्तिकता, घुटन, पीड़ा, भय, अवसाद और मृत्यु बोध उनकी लगभग सारी कहानियों में चित्रित किया गया है।

सामाजिक विसंगति का एक पहलू है संत्रास। संत्रास का अर्थ है-आतंक या खलबली। जब समाज में व्याप्त बुराइयां या विकार मनुष्य के दिमाग पर हावी हो जाते हैं। इतना हावी कि वह भय का रूप ले लेता है। उसकी सोच

जीवन के नकारात्मक पहलू पर केंद्रित होती जाती है। जीवन जीने के तौर-तरीके, सामाजिक व्यवहार में विचलन, आत्मकेंद्रित मनुष्य संत्रास से पीड़ित होता है। यही संत्रास अवसाद को जन्म देता है। किस प्रकार जीवन की एकरूपता सामाजिक संपर्क के अभाव में भयावहता में बदल जाती है इसका उदाहरण कहानी 'सूर्यपूजा' है, विलास नामक एक लड़का जीवन जीने के दृष्टिकोण को लेकर आतंकित है जहां लोग सिर्फ अपने लिए जीते हैं। वह डॉक्टर से कहता है-

''यह मुर्दों की बस्ती है। यह भरा-पूरा शहर मुर्दों की बस्ती है... बाज मरतबा तो मैं सोचने लगता हूँ कि यह बिलकुल खाली है... यह शहर है ही नहीं, यह कोई प्रेत है। डॉक्टर, क्या यह मुमकिन है कि इस मनहूस शहर में हजारो-हजारों आदमी सिर्फ खाने, पीने और सोने के लिए ही जिन्दा हैं।... घूमकर देखो। कोई यह यकीन करेगा कि यह एक शहर है जहाँ आदमी रहते हैं-जिन्दा, पूरे-पूरे मनुष्य, जो ह्यूमेनिटी कही जाती है?''[6]

सामाजिक नियमों के प्रति विचलित व्यवहार मनुष्य में अनिश्चितता को बढ़ावा देता है। अनिश्चितता-लक्ष्य के प्रति, जीवन और समाज के प्रति। फलस्वरूप निराशा बोध उत्पन्न होता है। व्यक्ति जीवन से उदासीन हो जाता है। उसे प्रतीत होता है कि यही निराशा उसके संपूर्ण जीवन फिर संसार में व्याप्त हो जाएगी। विडंबना यह है कि मनुष्य जिस जाले में उलझा हुआ है वह उसका खुद का तैयार किया हुआ है। कहानी 'हाय रे, मानव हृदय!' में डॉक्टर जब अधेड़ पुरुष का इलाज करना चाहता है तो फीकी हँसी हंसता है। उसे इलाज में कोई आस्था नहीं। आखिर कौन व्यक्ति जीना नहीं चाहता? जीवन से उदासीनता हताशा से ग्रस्त होने का लक्षण है-

''मैंने बार-बार उससे कहा कि वह मुझे अपनी परीक्षा कर लेने दे; पर उसने टाल दिया। वह कठिन निराशावादी था। जीवन को वह एक पाप समझता था, एक पराजय, और कहता था कि एक अन्धी और नृशंस शक्ति इस कलुषित विश्व का संचालन कर रही है।''[7]

भुवनेश्वर के रचनाकाल आदर्शवादी रचनाओं का उत्कर्ष था। जिसमें स्त्री के सम्मान को प्रधानता दी जाती थी। स्त्री के प्रति आचरण समाज के विकास या पतन का द्योतक था। पर भुवनेश्वर ने 'भेड़िए' कहानी में स्त्री के प्रति जो दृष्टिकोण दिखाया है उसके लिए उन्हें कड़ी आलोचना का सामना करना पड़ा। उनके यहां स्त्री भी विसंगति का शिकार है। कहानी में चित्रित किया गया है कि लड़कियां नटनियां हैं जिन्हें बंजारे पैसे कमाने की चाह में बेचने ले जाते हैं और भेड़ियों के हमले से बचने के लिए एक-एक कर तीनों को गाड़ी से गिरा कर उनका ग्रास बना देते हैं। स्त्री को उन्होंने वस्तु के रूप में दिखाया है-

''तुम्हारा क्या खयाल है, मुजरा करने? अरे बेचने के लिए। और वह किस मसरफ की हैं? ग्वालियर की नटनियाँ छोटी-छोटी गदबदी होती हैं और पंजाब में खूब बिक जाती हैं। यह लड़कियाँ होती तो बड़ी चोखी हैं, पर भारी भी खूब होती हैं।''[8]

यहां स्त्री जयशंकर प्रसाद की रचनाओं की स्त्री नहीं है। जिसकी अस्मिता के लिए पुरुष पूरे विश्व से युद्ध करने को उद्धत रहते हैं। जिनके लिए प्रेम का अर्थ समर्पण है। खारू बंजारा बांदी नटनिया को पसंद करता है पर जब जीवन बचाने की बात आती है वह दूसरी बार नहीं सोचता और उसे मृत्यु के मुंह में धकेल देता है।

यहां सारा घटनाक्रम स्वयं का अस्तित्व बचाए रखने का है। इसके लिए चाहे प्रेम का बलिदान क्यों न करना पड़े। भुवनेश्वर के यहां नाटकीयता या आदर्श का कोई स्थान नहीं है। वह समाज का नग्न और कुरूप पक्ष भी दिखलाते हैं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज प्रत्यक्ष रूप से न सही पर मानवीय हृदय को संचालित करता है। समाज और लोगों से जुड़े रहने से सकारात्मक ऊर्जा का संचार होता है। पर सामाजिक व्यवस्था से अलगाव का परिणाम मन में कुंठाग्रस्त अजनबीयत का घर करना है। दुःख हो या सुख यदि किसी से बांटें न जाएं तो ऊब पैदा करते हैं। इससे दोनों में ही समान स्थिति रहती है। या वे किसी ऐसे पारिवारिक उत्तरदायित्व से बंधे होते हैं जहां से बच निकलना संभव नहीं होता। ऐसे कुंठाग्रस्त पात्र का चित्रण कहानी 'मास्टरनी' में हुआ है। लूसी एक मकान में अलग रहकर बच्चों को पढ़ाती है और अपने मां-बाप और भाई-बहन का भरण पोषण करती है-**''दो साल पहले ईसाईयों के इस गांव में आकर, एक हिंदुस्तानी मिशनरी की**

मदद से उसने यह स्कूल खोला था। इन दो सालों में उसका चेहरा और भी लंबा, और भी पीला, और भी चिड़चिड़ा हो गया था। गांव में रहते हुए भी वह जैसे गांव से अलग थी। स्त्रियां उससे डरती थीं। मर्द उसको मर्दानी अवज्ञा से देखते थे।''[9] जीवन की एकरसता और सामाजिक अलगाव से उसमें मानों कैद से निकल भागने की छटपटाहट दिखाई देती है। उसे अपना जीवन मृत्यु के समान लगता है। उसके मजबूर होकर जीने में नाराजगी है। भुवनेश्वर ने उसकी दशा को बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है-**''मास्टरनी एकाएक बीच कमरे में खड़ी हो गयी सुनो यह पाँच रुपये हैं और यह मुरली का स्टाकिंग और वह ममी का सिंगारदान। और कहना कि कोई मुझसे और कुछ न माँगे। सब मर जाएँ, गिरजे में जा पड़ें। मैं-मैं कहती हूँ वे गिरजे में जा पड़ें, मिशन में मरें।...मेरे पास कुछ नहीं है... कुछ नहीं है। तुम मेरा घर झाड़ लो। मैं ही क्यों... तुमसे मुझे कोई सरोकार नहीं... मैं पूछती हूं।... मैं जैसे जिंदा दफना दी गई हूं। पर मुझे कब्र की शांति तो दे दो। वह वाकई हाथ फैलाकर शांति मांग रही थी।''**[10]

जब मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले नियम एवं कार्य-प्रणालियां अपने उद्देश्य में सफल नहीं होते तो परिणामस्वरूप लोगों में व्यक्तिवादी भावना विकसित होती है। वर्तमान समय में लोगों में व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना का तेजी से विकास हुआ है। स्व के महत्व को लेकर जागरुकता बढ़ी। अस्तित्वविहीन होने का खतरा व्यक्ति को सामाजिक परंपराओं के प्रति विद्रोह करने को विवश करता है। 'सूर्यपूजा' कहानी का एक उद्धरण दृष्टव्य है-**''कल्पना करो कि यह बस्ती गारत हो गई, घुलाकर बहा दिया। लेकिन दुनिया में कोई फर्क न पड़ा। कोई जानेगा भी नहीं कि घूरे पर गोबर का एक चोंथ नहीं रहा। और कोई जाने भी क्यों...थोड़े-से क्लर्क, दुकानदार, दलाल, अफसर - और हर एक शहर में बिलकुल ऐसे ही क्लर्क, दुकानदार, दलाल और अफसर हैं, बिलकुल ऐसे ही!... यह इतनी डुप्लीकेट कॉपियाँ आखिर क्यों हैं!''**[11]

सामाजिक विसंगति एकाएक उत्पन्न नहीं होती। किन्हीं घटनाओं और व्यवस्था की निरंतरता में जब व्यक्ति के स्वाभाविक विकास में बाधा आती है तब विसंगतियां जन्म लेती हैं। भुवनेश्वर ने अपनी रचनाओं में यथार्थ का जो स्वरूप दिखलाया, वह तत्कालीन साहित्य से बिल्कुल भिन्न था। उन्होंने आदर्श के बजाय साहित्य में वर्तमान समय की परिस्थितियों के चित्रण को प्राथमिकता दी। उनकी रचनाओं में स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत समाज में उपजी कुंठा, भय, संत्रास सामाजिक विचलन और विसंगतियों का चित्रण बखूबी हुआ है।

पीएच.डी शोधार्थी,
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
ई-मेल: Smrity0027@gmail.com

संदर्भ सूची

1. के. मर्टन, रॉबर्ट, सोशलथिअरी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर, पृष्ठ संख्या: 217
2. दुर्खीम, इमाइल, द डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी, पृष्ठ संख्या: 368
3. सिंह, डॉ. रामसेवक, एब्सर्ड नाट्य परंपरा, पृष्ठ संख्या-11
4. डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृष्ठ संख्या-103
5. हाड़े, गुलाबराय, मन्नू भण्डारी का कथा साहित्य, पृष्ठ संख्या-09
6. भुवनेश्वर, सूर्यपूजा कहानी, (gadyakosh.org/gk/भुवनेश्वर)
7. भुवनेश्वर, हाय रे, मानव हृदय! कहानी, (gadyakosh.org/gk/ भुवनेश्वर)
8. भुवनेश्वर, भेड़िए कहानी, (gadyakosh.org/gk/भुवनेश्वर)
9. भुवनेश्वर, मास्टरनी कहानी, (gadyakosh.org/gk/भुवनेश्वर)
10. भुवनेश्वर, मास्टरनी कहानी, (gadyakosh.org/gk/भुवनेश्वर)
11. भुवनेश्वर, सूर्यपूजा कहानी, (gadyakosh.org/gk/भुवनेश्वर)

संदर्भ-ग्रंथ सूची

- आधार ग्रंथ–
  भुवनेश्वर की कहानियां, (gadyakosh.org/gk/भुवनेश्वर)

1. भेड़िए
2. मास्टरनी
3. सूर्यपूजा
4. हाय रे, मानव हृदय!

सहायक-ग्रंथसूची-

1. डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की परिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2022
2. कुमार, डॉ. सतीश, भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों का विश्लेषण और मूल्यांकन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, संस्करण 2011
3. दिनकर, रामधारी सिंह, आधुनिक बोध, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2019
4. दुबे, श्यामाचरण, भारतीय समाज, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, संस्करण 2021

- **पत्र-पत्रिकाएं-**

1. पुस्तकवार्ता, अंक 33, मार्च-अप्रैल 2011
2. जनकृति, सितंबर 2021

शोध-पत्र

मीणा लोकगीतों का ऐतिहासिक महत्व

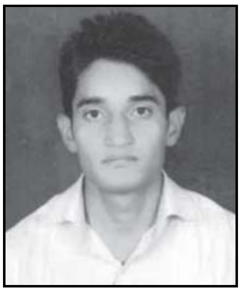

दीपचन्द मीणा

सारांश

राजस्थान की मीणा जनजाति जो मुख्यत: राजस्थान के पश्चिमी भू-भाग पर निवास करती है। उनके लोकगीतों में उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक विविधता दिखाई देती है। मीणा जनजाति के गीतों में स्थानीय जीवन, प्रकृति, सामाजिक परंपराएं और धार्मिक भावनाएं देखने को मिलती हैं।

इन गीतों का मुख्य उद्देश्य समाज की समृद्धि, खुशहाली ओर एकता को बढ़ावा देता है। इन गीतों में सांस्कृतिक जीवन की भावात्मक गहराई व उनकी ऐतिहासिक व्यवस्था का पता चलता है। मीणा जनजाति के गीतों की विशेषता है कि वे अक्सर स्थानीय मूल्यों, परम्पराओं और इतिहास से जुड़े होते हैं। ये गीत गायन के माध्यम से समुदाय की परम्परा को सुरक्षित रखते हैं और आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

मीणा जनजाति के गीतों की वाणी रचनात्मकता और भावात्मकता गहराईयों से भरी होती है। गीतों में ये गीत मुख्यत: स्थानीय लोगों के द्वारा गाया व बजाया जाता है। गायन के साथ-साथ नृत्य भी प्रस्तुत किया जाता है जिसमें मीणा जनजाति समुदाय की एकता दिखाई देती है और इस एकता को आगामी पीढ़ी के लिए संजोकर रखने का प्रयास किया जाता है।

इन गीतों की भाषा सामान्यत: माखाडी या मेवाती व स्थानीय भाषा में मिलते हैं। इन गीतों में मुख्यत: बोलचाल की भाषा का प्रयोग होता है जिससे संवाद और सामाजिक संवाद स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

सार्वजनिक अवसरों पर गीत गाये जाते हैं जैसे विवाह, मेले, त्यौहार और अन्य सामाजिक उत्सवों में इन अवसरों पर गीतों का महत्वपूर्ण योगदान होता है जो समुदाय के लोगों में एकजुटता का भाव जागृत करते हैं और एक-दूसरे का समर्थन करते हैं।

इस प्रकार मीणा जनजाति के लोगों में लोकगीतों में उनकी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और सामाजिक संवाद में हमें व्यापकता आज भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। ये गीत मीणा जनजाति के अद्वितीय जनजीवन को प्रकट करते हैं और इन सांस्कृतिक विविधता को समर्थन प्रदान करते हैं।

लोकगीत एक साहित्यिक रूप में है जो सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से उत्पन्न होता है। ये गीत सामान्य स्थानीय जनजातियों या समुदायों में प्रचलित होते हैं और उनके जीवन के प्रमुख पहलुओं को दर्शाते हैं। इन गीतों के माध्यम से समुदाय की परम्पराएं, धार्मिक और सामाजिक आदर्श स्थानीय इतिहास और व्यक्तिगत भावनाएं दिखाई व सुनाई जाती हैं। ये गीत सामाजिक समरसता और सांस्कृतिक समृद्धि का प्रतीक भी मालूम होते हैं।

लोकगीत दो शब्दों से मिलकर कर बना है—लोक+गीत। लोगों द्वारा गाया गया गीत लोकगीत व लोकनृत्य[1] संसार में पूरे देशकाल में पाये जाते हैं। कुछ प्रमुख विद्वानों ने भी लोकगीतों के बारे में विचार दिये हैं जो निम्न हैं-

श्री मगन सागर ने लिखा है कि ''किसी भी व्यक्ति विशेष पर लिखा हुआ गीत जब सामाजिक क्षेत्र से उतर कर समाज की धरोहर बन जाता है और उसके व्यक्ति का व्यक्तित्व उस पर अंकित हो जाता है तो वह लोकगीत की श्रेणी में आ जाता है।''[2]

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ''लोकगीत वे होते हैं जो लोकजीवन की सहज अभिव्यक्ति है और जिनका रचियता अज्ञात होता है।''[3]

महादेवी वर्मा ने भी लिखा है कि ''लोकगीत वे गीत हैं जो पीढ़ी दर पीढ़ी लोकसमाज में प्रचलित होते हैं जिनमें समाज के रीति-रिवाज व परम्पराएं, आस्थाएं एवं जीवन की सजीव झलक मिलती है।''[4]

शिवकुमार मिश्र ने भी लिखा कि ''लोकगीत में समाज की सामूहिक चेतना का प्रतिबिम्ब मिलता है। ये गीत लोकजीवन की आत्मा का संजीव चित्रण करते हैं।''[5]

इन परिभाषाओं से पता चलता है कि विभिन्न विद्वानों ने लोकगीतों को समाज की संस्कृति रीति-रिवाज, भावनाओं और जीवन की सहज अभिव्यक्ति के रूप में देखा है।

मीणा जनजाति समुदाय के गीतों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से करते हैं। ये ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक कुरीतियों से संबंधित, प्रेम-प्रसंगों से संबंधित, श्रमिक उत्सवों एवं पर्वों पर, मेले आदि के अवसर पर तथा सामाजिक अवसरों पर ये लोकगीत गाये जाते हैं। मीणा जनजाति में ही सर्वाधिक वर्गीकरण देखने को मिलता है। गीतों में लोकगीत व लोकनृत्य जनजाति जीवन का अनिवार्य अंग है। लोगों का मानना था कि लोकगीत प्राणदायनी औषधि के समान है जिसे सुन करके लोगों में एक जोश व उमंग आ जाती है।

मीणा समुदाय में गायन, नृत्य और वाद्य यन्त्रों संबंधी कार्यकलाप उनकी संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। उनके लोकगीत उनके सांस्कृतिक जीवन व समाज की विविधता को प्रकट करते हैं। इन गीतों में शामिल हैं धार्मिक गीत, ब्याह गीत, सेवनी गीत और सामाजिक समरसता को बढ़ाने वाले गीत। ये गीत जनमानस को व्यक्त करते हैं और उनके समाज की जानकारी प्रदान करते दिखाई देते हैं।

मीणा जनजाति के गीतों में बहुत सी विशेषताएं दिखाई देती हैं जिनमें सामाजिक और सांस्कृतिक विरासत दिखाई देती है। इसमें सामाजिक संरचना, परम्परा और धार्मिक अनुसृतियों को प्रकट करते हैं।

मीणा जनजाति के लोकगीतों में सांस्कृतिक विरासत के रूप में महत्वपूर्ण है। इन गीतों के माध्यम से उनकी परंपरा को जीवित रखने का प्रयास किया जाता है।

मीणा लोग मूल रूप से शैव तथा शाक्य अनुयायी थे। महादेव इनके इष्ट मालूम होते हैं और मीणा समुदाय को दो वर्गों में बांटा गया-जमींदार और चौकीदार।

चौकीदार मीणा जीणमाता को अपनी प्रमुख देवी मानते थे और देवी की पूजा में गीतों का उपयोग किया करते थे। इन गीतों के कुछ गीत इस प्रकार से हैं।

जब रै मीना का छोरा, चोरी करबा चाल्याँ।
बल-बल मूल ध्यालै, बाप ना ध्यायो,
मेरो दादो ना ध्यायो, मैं क्यो लाग लगाऊ मेरी माँ।।
जब रै मीना का छोरा, चोरी चलबा चाल्यो
बांधी छ चौमर पोर मेरी माँ, जब मेरी माता
भवानी साहुकार ना जगायी
तेरे महला चोर बड़यो तो हाथ हथकड़ी
पाँव में बेडी, गले में ताते लगायी मेरी माँ।।
तु रे मीणा का बेटा सुखी है या दुखी।
ए मेरी माता जीणभवानी, मेरी बेडी या छुटाय।।
बाप ना ध्यायो, मेरो दादो ना ध्यायो
मैं नई लाग लगाऊ।
तु कहतो बेटा आदि में,
तु कहै तो सिकर दोपहरी में काहू।
आदि मै काडोगी तो मैं चोर कहाऊँ
काडोना सिकर दुपहरी मै मेरी माँ,
हाथा कि हथकड़ी टूटी, पाँवा की बेड़ी टूटी
गले की तात, कढ़ायी मेरी माँ,
अब माँ मैं से, कुब्बो आऊ तेरे।
पेट पलाण्या आऊँ मेरी माँ।

भावार्थ-इसी गीत का भावार्थ है कि मीणा जाति की आर्थिक स्थिति दयनीय होने के कारण चोरी डकैती से अपना जीवन निर्वाह करते थे। एक मीणा जब चोरी करने साहूकार के घर पहुंचा तो चोरी किये गये सामान की गठरी बना ली जाती है। .... बेड़ी हाथों में हथकड़ी तथा गले में तांत लगा देखी थी। तब जीणमाता मीणा के छोरे से पूछती है-बेटा सुखी है या दुखी है और साहूकार को जगाने को कहती है। तब मीणा जीणभवानी के पैरों में गिरता है और अपनी बेड़ियों से छुटकारा पाने के लिए कहता है। तब जीणमाता कहती है कि आज तक न तो तेरे बाप ने मुझे माना और ना ही तेरे दादा ने तो तुझे छुड़ाने का कोई फायदा नहीं। तभी मीणा बेटा जीणमाता से कहता है कि माता मुझे क्षमा करो। अब मैं नई लाग लगाऊंगा और सपरिवार हम पेट के बल घिसटते हुए आपके देवस्थान पर आयेंगे। फिर माता ने उसकी बेड़ियां तोड़ीं

ओर मीणा जब भी चोरी-डकैती करने जाते थे तब जीणभवानी का आशीर्वाद जरूर लेकर जाते थे और कार्य सिद्ध होने पर माता की पूजा-अर्चना तथा बकरे की बलि चढ़ाते थे। विभिन्न अनुष्ठान किया करते थे और लुटे गये माल का कुछ हिस्सा जीणमाता को चढ़ाते थे।[6]

इससे पता चलता है कि मीणा समाज के लोकगीतों के माध्यम से अपने बारे में बताते हैं और किस प्रकार से वह अपने सामाजिक-धार्मिक जीवन में गीतों से अपना ऐतिहासिक परिचय कराते हैं। ये गीत मीणा समाज के जनमानस में प्रचलित प्रतीत होता है लेकिन वर्तमान में हमें ये गीत लुप्त होते दिखाई देते हैं जो हमारी संस्कृति का हिस्सा है। इसलिये इस संस्कृति के हिस्से में जो गीत हैं वह आने वाली पीढ़ी के लिये सुरक्षित रहे इस हेतु शोधपत्र का कार्य किया जा रहा है।

लोकगीत व लोकनृत्य जनजातियों के जीवन का अनिवार्य अंग है। लोकगीतों को देवी-देवताओं के स्थानों पर तीर्थ यात्रा करते समय भक्तगण लोकगीत गाते नजर आते हैं और मीणा समाज में शुभ कार्य या विशेष आयोजन के समय लोकगीतों का गायन किया जाता है।[7]

लोकगीत गाते समय नृत्य भी किया जाता है और हाथ, पेट तथा शरीर की गतियों को बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया जाता है। सामान्य रूप से वे वादन यंत्र के अभाव में हाथ की ताली बजाकर तथा जमीन पर पैर बजाकर नाच-गान करते हैं। इनके नृत्य गान में ढोल, कुंडी, डोलवा, नगाड़ा, थाली, घुंघुरू आदि वाद्य यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है।

मीणा आदिवासी समाज के लोकगीतों में वर्तमान में भी हमें ऐतिहासिकता का परिदृश्य दिखाई देता है। इस समाज के लोकगीत अनूठी सांस्कृतिक धारा को दर्शाते हैं और आज भी उनके गीतों में व उनकी जीवन शैली, परंपराओं और प्राकृतिक संस्कृति से प्रेरित दिखाई पड़ती है।

आदिवासी मीणा समाज के लोकगीतों में अक्सर प्राकृतिक तत्वों जैसे कि बारिश, वन्य जीवन और समय के बदलाव को दर्शाने का प्रयास किया जाता है। इन लोकगीतों में जीवन के अलग-अलग पहलुओं का संवादित करने का प्रयास किया जाता है जैसे कि-प्रेम, संघर्ष, सामाजिक समस्याओं पर ध्यान देना।[8]

आजकल इन गीतों की स्थिति में भी काफी परिवर्तन आया है। बीते कई दशकों में इन गीतों को नये धूनीय और व्यावहारिक रूपों में प्रस्तुत किया जाता है। जिससे आधुनिक श्रोताओं को भी प्रेरित किया जा सके। इन गीतों के बोल मुख्यत: स्थानीय भाषा में देखने को मिलते हैं जो समाज की संस्कृति को उजागर करते हैं।

आदिवासी मीणा समाज के संगीत आज भी उनकी प्राचीन सांस्कृतिक धारा का प्रतिष्ठान या व्यापक बनाये हुए दिखाई पड़ता है। साथ ही उन्हें आधुनिकीकृत रूप में भी जीवित रखा गया है। ये गीत नई पीढ़ी को भी कुछ हद तक आकर्षित कर रहे हैं।

सामाजिक अवसरों पर कुछ गीत गाये जाते हैं जिनमें बिंदायक स्थापना गीत, भात गीत, बान गीत, कुलदेवी गीत ये गीत मुख्यत: गाये जाते हैं।

बिंदायक गीत मुख्यत: कोई भी शुभ कार्य प्रारम्भ करते समय गाया जाता है और बान गीत शादी के अवसर पर गाने जाते हैं। कुलदेवी के गीत भी मांगलिक अवसर पर गाये जाते हैं। इन सभी गीतों से पता चलता है कि मीणा आदि वासी के लोकगीत विशेष अवसरों पर आकर्षक रूप से देखा जा सकता है। कुछ लोकगीत निम्न प्रकार से हैं-

बिंदायक स्थापना गीत

यह गीत किसी भी काम की शुभ शुरुआत के समय गाया जाता है।

आज बिंदायक म्हारे आया संग रिद्धी-सिद्धी को लाया!
धुंघ धुघाडो, सुंड-सुडाडो बिंदायक
काहे का थाडज काडे, को कलश बिंदायक
माटी को कलश बिंदायक पीतल को थाइज
चावल की आरता बिंदायक रोली को तिलक,
लीपू पोतू थाको आसान लगाऊ बिंदायक,
म्हारो घरस्या बारन बिंदायक।

इसी गीत में गणेश जी भगवान को घर में विराजमान करने के लिये गाया गया है। हे गणेश जी महाराज आप मेरे घर रिद्धी-सिद्धी के साथ पधारो और मेरे कार्य पूर्ण करो। मैं आपके नाम का मिट्टी का कलश और पीतल की थाली रखता हूँ और रोली का आपको तिलक लगाकर उस पर चावल के दाने लगाता हूँ। आप गणेश जी बिंदायक महाराज आइये और कार्य को पूर्ण कीजिये। और आप मेरे घर में निवास करिये।[9]

भात गीत

भात गीत का गायन उस समय किया जाता है जब पीहर पक्ष से भाई अपने भानजा व भानजी (बहन के

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

बेटा–बेटी) की शादी के समय भात भरने आता है। उस समय यह गाया जाता है।

बीरा म्हारे रमा झमा सूं आ ज्यो रे
आप आज्यो मे भारज लारे लाज्यो रे
सिरदार भतीजा लारे लाज्योरे
बीरा म्हारे रमाझम सूं आज्यो रे
बीरा चौडा लम्बा पेच म्हारा ससूरा बई लाज्यो रे
कोर गोटा री साडी लंबा झब्बा री साडी
म्हारी सांसू बई लाज्यो रे बीरा भातई।

भावार्थ – बहन अपने भाई को कहती है कि भाई मेरे घर तुम भात लेकर आना। तुम्हारे भानजा व भानजी की शादी में और धूमधाम से तुम मेरे घर आना और मेरे ससुर के लिये बहुत सुन्दर सा साफा लाना व मेरी सांसु माँ के लिये बहुत सुन्दर गोटे वाली साड़ी लेकर आना। भाई तुम भात भरने जरूर आना।[10]

मीणा आदि वासी समाज के गीत आसान व सामान्य स्थानीय भाषा में गाये जाते थे जिन्हें आमजन को समझने में ज्यादा समस्या का सामना नहीं करना पड़ता है और यह मीणा गीतों की ऐतिहासिकता का परिचय देता है।

आदिवासी मीणा समाज के लोकगीतों का ऐतिहासिक महत्व रहा है। ये गीत समाज की सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

एक अन्य धार्मिक गीत :
जीण तुम्हारी बारण ब्याँ ए बल भेजूंगी
लोहा गढ ए लुहार, माता क आयेण भेजूंगी।।
भगता का गढध्यो तांतडिया।
जीण का गढध्यो त्रिशुल, माता क ओजण भेजूंगी।।

भावार्थ – इस गीत का भावार्थ है कि जीण माता के दरबार में जब उनके भक्तगण जाते हैं तो कई प्रकार की तैयारियां वे करते हैं जैसे लुहार से त्रिशुल बनवाते हैं जीणमाता के लिये और भक्तों के लिये तांतडिया (बजाने के यन्त्र) बनवाते हैं और अपनी माता जीण को समर्पित करते हैं।

निष्कर्ष

मीणा जाति के लोकगीतों का ऐतिहासिक महत्व उनकी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने में निहित है। ये गीत व मीणा समुदाय की विशेष पहचान है जो इतिहास में एक महत्वपूर्ण अंग है। मीणा समुदाय के लोकगीत अपने अद्वितीय व्यंग्य, भावनात्मक गहराई और समाज के विभिन्न पहलुओं का प्रतिबिम्ब है। इन लोकगीतों में उनकी सांस्कृतिक विरासत को रखने व प्राचीनता और सामाजिक संगठन की गहरी परंपरा को बयान करते हैं। ये गीत मीणा समुदाय की सांस्कृतिक विरासत की विशेष पहचान है। जो इनके इतिहास, संस्कृति और धार्मिक प्रतीकों को समर्पित करते हैं।

इन गीतों के माध्यम से व्यक्ति और समुदाय का अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण होता है। ये गीत न केवल संगीतिक और काव्यात्मक महत्व रखते हैं बल्कि उनके द्वारा समुदाय के आधारभूत मूल्यों, धार्मिक प्रतीकों, और सामाजिक संगठन को व्यक्त करने में भी समर्थ होते हैं।

मीणा जाति के लोकगीतों का ऐतिहासिक महत्व इसी संदर्भ में समझा जा सकता है कि ये गीत उनकी परंपरगत धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विरासत का हिस्सा है। इस प्रकार मीणा जाति के लोकगीतों का ऐतिहासिक महतव उनके समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को साक्षात्कार करने में महत्वपूर्ण है।

नेट–जेआरएफ क्वालीफाई इतिहास
meenadeep09gmail.com

संदर्भ सूची

1. यशोदा मीणा, पु. मीणा जनजाति का इतिहास, पृष्ठ संख्या 53–54
2. शर्मा ब्रजकिशोर, ट्राइबल रिवोल्ट, पृष्ठ संख्या 63–64
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पु. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ संख्या 245
4. महादेवी वर्मा, पु. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ संख्या 132
5. शिवकुमार मिश्र, पु. भारतीय लोक साहित्य, पृष्ठ संख्या 54
6. शर्मा ब्रज किशोर, पु. ट्राइबल रिवोल्यूशन, पृष्ठ संख्या 63
7. मीणा लक्ष्मीनारायण, पु. मीणा जनजाति – एक परिचय, पृष्ठ संख्या 29
8. माथुर दुर्गाप्रसाद, पु. मीणा जाति का सतत् विकास एवं संस्कृति, पृष्ठ संख्या 14
9. मीणा लक्ष्मीनारायण, पु. मीणा जनजाति का इतिहास, पृष्ठ संख्या 51
10. मीणा यशोदा, मीणा जनजाति का इतिहास, पृष्ठ संख्या 5–6

शोध-पत्र

बीसवीं शताब्दी के समाज-सुधार आंदोलनों में भिखारी ठाकुर के साहित्य की भूमिका

राकेश रंजन

साहित्य और समाज का संबंध बहुआयामी है। एक ओर जनता की चित्तवृत्तियों में होने वाले परिवर्तनों से साहित्य प्रभावित होता है तो वहीं दूसरी ओर, साहित्य भी समाज को प्रभावित करता है और सामाजिक परिवर्तनों में योगदान देता है। इस संदर्भ में, यह विचारणीय है कि साहित्य किस प्रकार सामाजिक परिवर्तनों में योगदान देता है। साथ ही, यह भी प्रश्न भी है कि सामाजिक परिवर्तनों में साहित्य की भूमिका राजनीति, पत्रकारिता आदि से किस प्रकार भिन्न है। इस लेख में इन प्रश्नों पर भिखारी ठाकुर के साहित्य के संबंध में विचार किया जाएगा। भिखारी ठाकुर के साहित्य (मुख्यत: नाटकों) की सामाजिक भूमिका का विश्लेषण करते हुए हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि उनके नाटकों ने बीसवीं शताब्दी के समाज-सुधार आंदोलनों में क्या भूमिका निभायी?

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना ने भारतीयों के स्वाभिमान को आहत किया। परतंत्रता के बोध ने भारतीयों को आत्म-विश्लेषण और आत्म-समीक्षा की प्रेरणा दी। इस विश्लेषण और समीक्षा के माध्यम से भारतीयों को यह एहसास हुआ कि देश के सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों के पतन, पराभव एवं कई प्रकार की विकृतियों के कारण ही देश पराधीन हो गया। इस एहसास के परिणामस्वरूप देश के बुद्धिजीवियों ने समाज-सुधार हेतु विभिन्न आंदोलनों की शुरुआत की। इसी परिघटना को 'भारतीय पुनर्जागरण' या 'नवजागरण' की संज्ञा दी जाती है। राजा राममोहन राय इसके पुरोधा माने जाते हैं।

तत्पश्चात्, 1885 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ ही राजनीतिक आंदोलन केन्द्र में आ गए और समाज-सुधार आंदोलन अनुषंगी हो गया। लेकिन, 20वीं शताब्दी में महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस भी समाज-सुधार हेतु व्यापक स्तर पर कार्य करने लगी। गौरतलब है कि राजनीतिक आंदोलनों के साथ-साथ साहित्य भी इन समाज-सुधार आंदोलनों में योगदान देता रहा है। 19वीं शताब्दी में भारतेन्दु और उनके मंडल ने विधवा-विवाह, बाल-विवाह, अनमेल विवाह, स्त्री-शिक्षा, जातिवाद, छुआछूत आदि से जुड़ी समस्याओं को अपनी रचनाओं के माध्यम से उजागर किया और इनके समाधान हेतु जनमानस को प्रेरित किया। इसी क्रम में, आगे चलकर 20वीं शताब्दी में कई ऐसे रचनाकार हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत किया और उनसे उबरने आह्वान किया। ऐसे रचनाकारों में भिखारी ठाकुर नाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने भोजपुरी में लिखे अपने नाटकों को समाज-सुधार हेतु अस्त्र के रूप में उपयोग किया। इस संदर्भ में 20वीं शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन कवि, नाटककार, निर्देशक ब्रेख़्त ने भी ठीक ही कहा है कि- 'कला वास्तविकता का दर्पण नही है, बल्कि एक हथौड़ा है जिससे उसे आकार दिया जाता है।' इस प्रकार भिखारी ठाकुर के नाटक साहित्य की सामाजिक सोदेश्यता का दहकता दस्तावेज है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि आखिर समाज-सुधार में साहित्य की भूमिका राजनीति या पत्रकारिता से किस प्रकार अलग है? इसका उत्तर यह है कि जहाँ राजनीति और पत्रकारिता केवल लोगों की बुद्धि/मस्तिष्क को संबोधित और प्रभावित करते हैं, वहीं साहित्य लोगों के हृदय और संवेदन-तंत्र को झकझोर कर परिवर्तन की प्रेरणा देता है।

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

अत: साहित्य अधिक प्रभावी माध्यम बन पाता है। भिखारी ठाकुर के नाटकों ने भी अपने कथानक, अभिनेयता, गीत-संगीत तथा नृत्य आदि के माध्यम से सामाजिक समस्याओं को बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया और लाखों लोगों को द्रवित करके उन्हें परिवर्तन की प्रेरणा दी। आइए, देखते हैं कि भिखारी ठाकुर के नाटकों में कौन-सी सामाजिक समस्यायें प्रस्तुत की और उन्हें किस प्रकार रचनात्मक उर्जा से लैस करके लोगों के हृदय तक पहुंचाया?

सामाजिक सुधार के आधार पर भिखारी ठाकुर ने अपने नाटकों में लोक जीवन में मौजूद समाज के विभिन्न समस्याओं को बड़ी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। उन्होंने बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, धार्मिक अंधविश्वास, बहु-विवाह, व्यभिचार, पलायन, नारी और दलित आदि समस्याओं को बहुत ही मार्मिक ढंग से अपने नाटकों में दर्शाया है। इन्होंने इन सब समस्याओं को 'बिदेसिया', 'बेटी वियोग', 'विधवा विलाप', 'कलयुग प्रेम', 'गबरघिचोर', 'गंगा-स्नान', 'पुत्र-बध' और 'भाई-विरोधी' आदि लोक नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। 'बिदेसिया' में पति-वियोगिनी नारी, 'भाई-विरोध' में संयुक्त परिवार के विघटन, 'विधवा-विलाप' में विधवा के प्रति सामाजिक अत्याचार, 'गंगा-स्नान' में धार्मिक आडम्बर, 'पुत्र-बध' में नारी-चरित्र के विचलन, 'गबरघिचोर' में मानव को वस्तु के रूप में देखने की मानसिकता, 'ननद-भउजाई' में बाल-विवाह, 'कलियुग-प्रेम' में समाज में बढ़ रही नशाखोरी एवं उनके दुष्परिणामों तथा 'बेटी-वियोग' में बेटी को बेचने तथा अनमेल विवाह जैसी समस्याओं को भिखारी ठाकुर ने उठाया और आम जनता को इन सामाजिक समस्याओं के प्रति शिक्षित किया; क्योंकि इनमें उन्होंने स्थितियों से उबरने के संकेत भी दिए।'[1] स्पष्ट है कि भिखारी ने अपने साहित्यिक रचनाओं द्वारा लोगों में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, तथा संस्कृतिक जागरण का संदेश फैलाया। वे कबीर की तरह आक्रामक रूप नहीं अपनाये बल्कि नाटक में मनोरंजन के साथ ही हास्य-व्यंग्य द्वारा समाज में मौजूद विभिन्न कुरीतियों, अंधविश्वासों तथा विसंगतियों को उद्घाटित कर देते थे। हालाँकि उन्होंने विभिन्न सामाजिक समस्याओं सिर्फ बतलाया ही नहीं बल्कि उसे कैसे दूर किया जाए? इसका संदेश भी दिया है। मसलन भिखारी के नाटक 'बेटी-वियोग' की सफलता को देखा जा सकता है। क्योंकि ऐसा माना जाता है कि उस समय यह नाटक का समाज पर इतना प्रभाव पड़ा की माता-पिता अपने बेटी को बेचना बंद कर दिया था। इस प्रकार के अनेक उदाहरण भिखारी ठाकुर के नाटकों में मिलते हैं जो समाज पर एक सकारात्मक प्रभाव डाला।

भिखारी ठाकुर के नाटकों में प्रयुक्त विभिन्न विषय वस्तुओं का लगभग दो-तिहाई हिस्सा ग्रामीण नारी जीवन की त्रासद स्थिति को समर्पित किया है। क्योंकि भिखारी के समय हमारा देश औपनिवेशिक देश के हाथों गुलाम था। उस समय सामंती तथा पुरुष प्रधान समाज में महिलाओं की स्थिति त्रासद पूर्ण एवं दयनीय थी। स्त्रियां पुरुष के लिए केवल उपभोग की वस्तु भर समझी जाती थीं। उनके साथ जन्म से ही सौतेला व्यवहार किया जाता था। होश संभालते ही उन्हें चूल्हे-चौके तथा विभिन्न घरेलू कामकाज में लगा दिया जाता था। बाल उम्र में ही उन्हें विवाह कर दिया जाता था। इतना ही नहीं मां-बाप बेटी बेचकर धन कमाने की लालसा से बाल कन्या को किसी बूढ़े अपाहिज संभ्रांत व्यक्ति के साथ शादी करा दी जाती थी। परिणाम यह होता था कि कुछ समय बाद ही बूढ़े पति के मृत्यु के पश्चात बाल उम्र में ही कन्या विधवा हो जाती थी। इन बाल विधवा कन्याओं को समाज में दूसरा शादी करने पर सख्त पाबंदी थी। इसके कारण उनका जीवन धोबी के कुत्ते के समान हो जाती थी, ना उन्होंने ससुराल में जगह मिलती थी और ना मायके में। भिखारी ने 'विधवा-विलाप' नाटक में बहुत ही मार्मिकता के साथ विधवा स्त्री की करुण स्थिति का चित्रण किया है। कुछ इसी प्रकार की समस्या ('बिदेसिया' नाटक) नव्य विवाहित दुल्हन के साथ थी। दूल्हा ब्याह रचाकर गौना कराकर नई नवेली दुल्हन को गांव में ही छोड़कर रोजी-रोटी की तलाश में महानगर की ओर चल देता था। कभी-कभी बहुत से युवक अपनी पत्नी को भूलकर महानगर में ही दूसरी शहरी युवती के साथ ब्याह कर लेता था और गांव की नव्य विवाहित पत्नी का जीवन नरक हो जाता था। वह प्रदेश पति की प्रतीक्षा में अपना पूरा जीवन बिता देती थी। इतना ही नहीं वह गांव में बेसहारा होने के कारण उसे शारीरिक तथा मानसिक दोनों तरह की यंत्रणा भी झेलनी पड़ती थी। कुल मिलाकर, नारी की स्थिति नरक से भी बदतर थी। उनका जीवन भेड़-बकरियों से भी गया-गुजरा था। अत: भिखारी का ध्यान सर्वप्रथम मौत से भी बदतर

जिंदगी जीती स्त्रियों पर गई और एक संवेदनशील रचनाकार का धर्म निभाते हुए समाज में सबसे दबे-कुचले वर्ग को ही अपनी रचनाधर्मिता का विषय बनाया। ''भिखारी ठाकुर ने नारी-जीवन, नारी को सामाजिक स्थिति, नारी मनोविज्ञान और नारी की विभिन्न समस्याओं का सूक्ष्मता से अनुशीलन किया था। उन्होंने तत्कालीन ग्रामीण परिवेश में नारियों की समस्या को अपना उपजीव्य बनाया तथा अपने लोकनाटकों का लगभग 75% नारी-विमर्श को ही समर्पित किया। उनकी रचनाओं में नारी के विविध रूप आये हैं; जैसे बालिका के रूप में नारी ('बेटी-वियोग' और 'ननद-भउजाई'); विवाहित नारी के रूप में (संयोग पक्ष में 'भाई-विरोध', 'गंगा स्नान', 'पुत्र-बध', वियोगिनी नारी के रूप में 'बिदसिया', 'विधवा-विलाप', 'गबरघिचोर' और 'कलियुग प्रेम' में), माता के रूप में ('गंगा स्नान', 'बेटी-वियोग', 'राधेश्याम बहार', 'माता-भक्ति' तथा 'नाई बहार' में), प्रेयसी के रूप में ('राधेश्याम बहार', 'पुत्र-बध', 'बिदेसिया' और 'गबरधिचोर' में) आदि।''[2] कुछ इसी प्रकार भगवती प्रसाद ने भी भिखारी के नाटकों में वर्णित स्त्री के विभिन्न संवेदनशील समस्याओं को इंगित करते हुए कहते हैं कि 'भिखारी पूरे पांच दशकों तक अपने नाटकों के लेखन और मंचन के जरिये भोजपुरी समाज पर छाये रहे और उस दौरान उन्होंने महिलाओं की बदहाली को ही अपनी प्रभावोत्पादक प्रस्तुतियों का विषय बनाया। 'बेटी-वियोग' में खेलने-खाने की उम्र की बिटिया का ब्याह धन के लोभ में बूढ़े के साथ करने की सामाजिक विसंगति को जहां मार्मिकता से चित्रित किया गया, वहीं बचपन में शादी का परिणाम भुगतने को विवश विधवा का कारुणिक जीवन 'विधवा-विलाप' में अभिव्यक्त हुआ। 'कलियुग प्रेम' (पियऊ निसइल) में ताड़ी-शराब के नशे में धुत्त पति के कुकर्मों की सजा भोगती पत्नी की दुर्दशा की दास्तान है तो 'गंगा-स्नान' में ढोंगी साधुओं की ठगी का शिकार अबला की व्यथा-कथा है। परदेशी पति की सुध-बुध खोकर बाट जोहती गांव की नई-नवेली पत्नी के विरह और त्रासद जीवन की अनकही कथा 'बिदेसिया' में सार्थक ढंग से पिरोयी गयी है। मगर अश्श्रुविगलित करुणा का प्रदर्शन करने के बावजूद भिखारी ने नारी को कहीं भी कमजोर साबित नहीं किया है। पूंजीवादी व्यवस्था ने भले ही उसे उपभोक्ता वस्तु का दर्जा दे रखा हो, मगर नारी का स्थान आज भी समाज में सर्वोपरि है। नारी के सर्वोच्च अधिकार का संदेश भिखारी ने अपने नाटक 'गबरधिचोर' में बखूबी दिया है और यह साबित कर दिया है कि अबला का संबोधन पाने वाली नारी वास्तव में सबला होती है!'[3]

लोक जीवन व्यक्तियों का समूह होता है, लेकिन यह एक समूह के साथ-साथ विभिन्न स्तरों का भी द्योतक होता है। यह जाति-उपजाति, ऊंच-नीच, छूत-अछूत आदि में विभाजित होता है। इतना ही नहीं समाज का यह विभाजन उसमें मौजूद व्यक्ति की अस्मिता तथा उसके मूल्य बोध को भी दर्शाता है। भिखारी ठाकुर ने 'चौवर्ण पदवी' नामक गीत में चारों वर्णों की व्याख्या विभिन्न प्रतीकों व प्रतिमानों के माध्यम से की है। उनका कहना है कि देश में चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) होते हैं, जो अपने-अपने काम में लगे हुए हैं और देश के विकास में सामान्य योगदान दे रहे हैं। लेकिन, वैश्य और शूद्र वर्ण की स्थिति वैसी नहीं है जैसी अन्य वर्णों की है। भिखारी ने 'नाई बाहर' में नाई जाति की स्थिति का वर्णन किया है, जिसमें नाई तथा ब्राह्मण धार्मिक अनुष्ठानों में समान रूप से काम करते हैं, फिर भी नाई को अपने कर्म तथा श्रम के मुताबिक मजदूरी और दान-दक्षिणा का हिस्सा नहीं मिलता है, जबकि ब्राह्मण अपने श्रम से अधिक दान-दक्षिणा का हिस्सा प्राप्त करता है। इस प्रकार भिखारी श्रम के मूल्य को सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार निर्धारित करती है? के प्रश्न को बड़ी सूक्ष्मता व संवेदनशीलता के साथ स्थापित करने का प्रयास किया है। भिखारी ठाकुर ने अपनी आर्थिक व्यवस्था को अपनी रचनाओं के माध्यम से दर्शाते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है:-

''नाई के माई गिरावे लोर,
बबुआ जइहन देश का ओर
जूरत नइखे छाता-जूता, कइसे चिठी नेवतिहन पूता
कच्चा सेर भर सतुआ नून, बेसी ना पइबऽएको बून
एतने पइबड जइबड जरुर,
ना त करबड मारके चूर।''[4]

उपयुक्त पंक्ति से स्पष्ट होता है कि नाई समाज की मां इस बात से काफी चिंतित है कि न्योता लेकर बाबू दूसरे देश कैसे जाएंगे, ना पैर में पहनने को जूता है और ना ओढ़ने को छाता है; साथ ही खाने-पीने के नाम पर सेर भर सतुआ और नून है। यह पंक्ति न केवल नाई समाज के आर्थिक और सामाजिक स्थिति को इंगित करता है

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

बल्कि उस समय के व्याप्त सामंती शोषण पद्धति का भी कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करता है। इस सामंती व्यवस्था के लिए समाज के उस वर्ग को दोषी ठहराया गया है जो वर्ण व्यवस्था में सबसे ऊंचे स्थान पर बैठा है। नई समाज की इस तरह का वास्तविक और यथार्थ चित्रण किसी भी अन्य साहित्य में देखने को नहीं मिलता है। भिखारी ठाकुर अपने साहित्य के माध्यम से लोगों को शोषण के खिलाफ कहकर बयान नहीं दे रहे हैं बल्कि लोग जागरण का संदेश दे रहे हैं।

भिखारी ने लोक जीवन में मौजूद विभिन्न संबंधों को बहुत ही सूक्ष्मता के साथ देखा है। इसलिए उनके नाटकों में आदर्श स्त्री, माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, ननद-भौजाई, देवर-भौजाई, सास-बहू आदि संबंधों को बहुत ही सरल, सहजता तथा सूक्ष्मता के साथ अपने नाटकों में दिखाया है। भिखारी ने इन सभी सम्बन्धों को बिदेसिया, भाई-विरोध, बेटी-वियोग, विधवा विलाप, कलियुग प्रेम, पुत्र वध, गबरघिचोर, गंगा स्नान, ननद भौजाई आदि नाटकों में विस्तारपूर्वक किया है। वहीं, 'कलयुग प्रेम', 'विधवा विलाप' तथा 'गंगा स्नान' आदि नाटकों में आधुनिक युग की दूषित मानसिकता को भी दर्शाया गया है। जैसे, नाटक 'कलियुग प्रेम' में एक नशे के आदी व्यक्ति की कथा है। मुख्य पात्रों में पति (निसइल), दुखहारिन (निसइल की पत्नी), रंडी, शंकर और लड़का (निसइल के पुत्र) है, तो गौण पात्रों में समाजी, पंच तथा ग्रामीण आये हैं। नाटक का प्रारम्भ दुखहारिन के विलाप गीत से होता है। उसके पति ने नशे में उसका सिर फोड़ दिया है। यहाँ तक कि उसने नशे के लिए घर के चौखट और किवाड़ तक बेच डाले हैं-

''निशा खा के पिया मोर,
निसा खा के पिया मोर दिहलन कपार फोर,
(से) परल बानी निसइल का पालवा हो लाल
(से) परल बानी,
बेंचि के चौकठ-केवारी,
बेंचि के चौकठ-केवारी तन पर के हमरा सारी,
(से) सेतिहे में बिगलन मोहर मालावा हो लाल,
(से) परल बानी।''[5]

इस प्रकार इनके नाटकों में व्यक्त समस्याओं के अन्य कारण तत्कालिक सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक और सामंती व्यवस्था भी हैं।

लोक जीवन धर्म के प्रति बहुत ही आस्थावान होता है। लोक जीवन के कलाकार होने के कारण भिखारी ठाकुर ने नाटकों में राम, कृष्ण, गंगा आदि से संबंधित प्रसंगों को प्रमुख स्थान दिया है। भिखारी ने प्रसिद्ध राम कथा तथा कृष्ण कथा को लोक जीवन में प्रचलित अंश को चुनकर अपने गीतनाट्य को सजाया है। इतना ही नहीं उन्होंने इन कथाओं के नायकों एवं सामाजिक धार्मिक स्थानों पर भोजपुरी संस्कृति को आरोपित कर देते हैं। उदाहरण के लिए-भिखारी ठाकुर की राम की बारात अयोध्या की बारात से बिल्कुल भिन्न भोजपुरी की बारात मालूम पड़ती है। लावाछीटाई, पानीग्रहण, परीक्षावन, बारातियों को लेकर नोकझोंक आदि को नाटकों में विस्तार से वर्णन करते हैं। किंतु, दूसरी ओर तत्कालीन समाज में जहाँ धर्म, आस्था, विश्वास शामिल था, वहीं रूढ़ि, ढोंग, दिखावा, आडम्बर आदि भी अपना पैठ जमाये हुए था। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ तुलनात्मक रूप से ज्यादा धर्म के प्रति आस्थावान होती हैं। इसलिए साधु-संत, ओझा-गुनी, अक्सर उन्हें धर्म के नाम पर लूटते हैं। भिखारी ठाकुर इन्हीं विषयों को आधार बनाकर 'गंगा-स्नान' नाटक की रचना करते हैं। भिखारी ठाकुर नें अपने 'गंगा-स्नान' नाटक का सृजन एक वृद्ध-विधवा नारी की मनोदशा को केंद्र में रखकर किया है। आमतौर पर वृद्धावस्था को जीवन का अंतिम चरण माना जाता है, इस अवस्था में लोग भजन-कीर्तन, तीर्थ-यात्रा और पूजा-पाठ जैसे आध्यात्मिक कार्यो में लीन रहते हैं। 'गंगा-स्नान' नाटक में एक विधवा काकी को गंगा-स्नान के कारण अपने बहु-बेटे द्वारा उत्पीड़ित किया जाता है। भिखारी ठाकुर का मानना है कि जिस घर में वृद्धजनों का सम्मान नहीं होता, उस घर के लोगों द्वारा गंगा-स्नान किया जाना व्यर्थ है। समाज में व्याप्त धर्म और रूढ़ियों पर भिखारी ठाकुर जमकर प्रहार करते हैं। उनका मानना है कि यह कैसी विडंम्बना है कि जीते-जी बेटा-बहु सास-ससुर को जानवरों जैसी जिंदगी जीने के लिए विवश करते हैं। जबकि उनके मरणोपरांत श्राद्ध कर्म जैसे कर्मकांडों में धन-संपदा खर्च करते हैं।

''जिअता में कुत्ती-कुत्ता बनिके पतोह-पूता,
कटलन खूब ललकारी।
मुअला पर पिण्डा पानी, दान होई सोना चानी,
लोग खाई पूड़ी-तरकारी।''[6]

वृद्धों की इस विवशतापूर्ण स्थिति को देखते हुए

भिखारी ठाकुर वृद्धाश्रमों को खोलकर उनके गरिमामय जीवन की वकालत करते हैं। उन्होंने अपनी लोकप्रिय रचना 'बुढशाला का बयान' में लिखा है-''अब देखल जाए कि गाय के वास्ते गौशाला खुल गइल। अब बूढ़ खातिर बुढशाला खुल जाइत; बहुत अच्छा रहला। काहे कि बूढ़ के बड़ा कलीफ बीतत बा।''[7] कुछ इसी प्रकार आगे वे कहते हैं कि-''कहे भिखारी अब ही तूं बुढ़साला द बनवाई। ना त होत बाटे बूढ़ के अपमान।''[8]

जब हम भिखारी ठाकुर के नाटकों को सूक्ष्मता एवं गहराई से पढ़ते हैं तो हम पाते हैं कि लोक जीवन में व्याप्त समस्याओं का एक प्रमुख कारण आर्थिक है। आर्थिक अभाव के कारण ही रोजगार की तलाश में गाँव से शहरों की ओर पलायन करना पड़ता है। क्योंकि गाँव की अर्थव्यस्था कृषि पर टीका होता है। और यह कृषि भी मानसून पर ही निर्भर होता है। मानसून के बदलाव के कारण कभी बाढ़ तो कभी सुखाड़ भी आती रहती है। इसके कारण पेट भरने के लिए पर्याप्त रोजगार नहीं मिलता है। अत: वे अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए शहर की ओर पलायन करना पड़ता है। लोक जीवन के आर्थिक मजबूरी को भिखारी ने 'बिदेसिया' नाटक की इन पंक्तियों में मार्मिक रूप से चित्रित किया गया है-

प्यारी, देश तनी देख द हम के।
जात-आवत में देरी ना लागी, जईसे घोड़ा के रस।
बल बुद्धि से रोज कमाई, नगद माल हरमेस।
देस तनी...।।[9]

इस पलायन के कारण उन्हें अनेक प्रकार की सामाजिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं से भी गुजरना पड़ता है। दूसरी ओर भिखारी के नाटकों में अन्य प्रकार की विभिन्न समस्याएँ भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक अभाव से ही जुड़ी दिखती है, जैसे 'बेटी बेचवा' नाटक में एक गरीब परिवार की आर्थिक विवशता दिखाई गई है, जिसमें एक पिता अपनी बाल पुत्री का विवाह एक अमीर वृद्ध से कर देता है; 'विधवा-विलाप' में धन की अधिक लालसा में विधवा के प्रति अत्याचार की घटना तथा 'कलियुग प्रेम' में आर्थिक तंगी के कारण नायक इतना पीने लगता है कि वह घर का सारा सामान बेच देता है।

लोक जीवन में न्यायालय के रूप में पंचायत व्यवस्था होती है। यही पंचायत गांव के विभिन्न प्रकार के लड़ाई-झगड़ा तथा वाद-विवाद आदि को सुनता है तथा विभिन्न पक्षों के तर्क सुनकर पंच उनके तर्क के अनुसार फैसला सुनाते हैं। कभी-कभी पंच धन की लालच में आकर विपरीत फैसला भी दे देते हैं। भिखारी ठाकुर ने 'गबरघिचोर' नाटक में न्याय प्रणाली के इन्हीं प्रश्नचिन्ह को उठाया है। साथ ही, गर्भ पर नारी के अधिकार को दिखाया है। क्योंकि भिखारी नारी को समाज की धुरी मानते हैं। नारी ही समाज का सर्जक तथा कर्ता-धर्ता है। इसी कारण उन्होंने गड़बड़ी, गलीज तथा गलीज बहू (माँ) तीनों द्वारा दिया गया लोक तर्कों पर गलीज बहू अर्थात् नारी के तर्क को सर्वोपरि मानते हैं। मसलन यहाँ हम गलीज बहू के लोक तर्को को देख सकतें हैं -

''घर में दूध पाँच सेर, केह जोरन दिहल एक धार।
का पंचायत होखत बा, घीऊ सापेफ भइल हमार।''[10]

अर्थात् घर में पाँच किलो दूध की दही जमाने के लिए किसी से एक 'सितुहा' जोरन लिया। क्या पंचायत हो रही है? उसमें से साफ होकर जो घी निकला, वह मेरा ही हुआ न।

इस तरह भिखारी एक ओर जहाँ नारी को ममतामयी, सत्य सच्चरित्र, धार्मिक दृष्टि से सम्पन्न तथा उदार रूप में देखना चाहते हैं। किंतु, वहीं दूसरी ओर उन्होंने कुलटा, कुटनी या सास-ससुर को अपमानित करने वाली तथा दुष्चरित्र नारियों के प्रति कोई समझौता नहीं करते हैं, जैसा कि उनके भाई-विरोधी, गंगा-स्नान, कलियुग प्रेम आदि नाटकों में देखने को मिलता है। इस तरह हम देखते हैं कि भिखारी ठाकुर के लोक नाटकों में समाज के विभिन्न आयामों को बहुत ही सूक्ष्मता एवं संवेदनशीलता के साथ दिखाया गया है।

अपने नाटकों के प्रस्तुति में भिखारी ठाकुर ने मनोरंजन का विशेष ध्यान रखा। वह जानते थे कि ज्ञान की शुष्क बातों को जनता बहुत देर तक तन्मयता के साथ नहीं सुन सकती। अत: उन्होंने मनोरंजन (गीत-संगीत, नृत्य तथा हास्य-व्यंग्य आदि) के माध्यम से लोगों को नाटक के कथानक और उद्देश्य से बांधे रखने का कार्य किया गया और इस मनोरंजन के क्रम में ही लोगों को सामाजिक सन्देश भी मिल जाता था। इसी के माध्यम से वह लाखों लोगों तक अपनी बात पहुंचा सके और उन्हें परिवर्तन की प्रेरणा दे सके। भिखारी ठाकुर की गणना ऐसे ही समसामयिक लोक रचनाकारों की प्रथम पंक्ति में की जाती है, जिसने

देश–दुनिया की राजनीति से बेखबर अपने परिवेश में ऊँघते एक बड़े समुदाय को अपनी समझ की सीमा में जगाने का काम किया। राहुल जी ने उनका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा था ''लोग के काहे नीमन लागेला भिखारी ठाकुर के नाटक? काहे दस–दस, पनरह पनरह हजार के भीड़ होला इ नाटक देखे खातिर? मालूम होत आ कि एही नाटक में पउलिक के रस आवेला। जवन चीज में रस आवे उहे कविताई।''[11] 20वीं शताब्दी के समाज–सुधार आंदोलनों में भिखारी ठाकुर का योगदान तब और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है जब हम देखते हैं कि उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से जिन लोगों को संबोधित किया, उनमें अधिकांश लोग निरक्षर थे। जबकि निरक्षर लोगों तक पत्रकारिता की पहुँच बहुत कम थी। अतः इस मायने में भिखारी ठाकुर के नाटकों ने एक ऐतिहासिक भूमिका निभायी है।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार
rakesh.kmcdelhi@gmail.com

संदर्भ सूची

1. यादव, डॉ. वीरेन्द्र नारायण, भिखारी ठाकुर रचनावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, तृतीय सं., 2015, पृष्ठ 7
2. वही, पृष्ठ
3. द्विवेदी, भगवतीप्रसाद, भिखारी ठाकुर : भोजपुरी के भारतेंदु, आशु प्रकाशन, पुराना कटरा, इलाहाबाद, प्र. सं. 2000, पृष्ठ 78
4. यादव, डॉ. वीरेन्द्र नारायण, भिखारी ठाकुर रचनावली, पृष्ठ 278
5. वही, पृष्ठ 107
6. वही, पृष्ठ 149
7. वही, पृष्ठ 267
8. वही, पृष्ठ 270
9. वही, पृष्ठ 31
10. वही, पृष्ठ 169
11. 'पीड़ित', तैयब हुसैन, भिखारी ठाकुर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्र.सं., 2008, पृष्ठ 7

शोध-पत्र

वृंदावन लाल वर्मा के उपन्यासों में स्त्री पात्रों की राजनीतिक चेतना (ऐतिहासिक उपन्यासों के संदर्भ में)

डॉ. पूनम मीणा

भूमिका:

वृंदावन लाल वर्माजी को साहित्य जगत में ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ख्याति प्राप्त हुई। वह उपन्यासकार के अतिरिक्त कहानीकार, नाटककार, निबंधकार आदि भी हैं। वर्माजी के साहित्यिक योगदान पर टिप्पणी करते हुए सियारामशरण प्रसाद लिखते हैं ''वृंदावन लाल वर्माजी हिंदी के उन प्रौढ़ और सफल कलाकारों में हैं जिन्होंने हिंदी साहित्य को उपन्यास, नाटक और कहानी से सतत समृद्ध और गौरवान्वित कर अपना महत्वपूर्ण स्थान बना दिया है। जहाँ उनमें कहानी सृजन की सफल कला है, वहाँ विविध समस्याओं को रंगमंच के माध्यम से, सहज ढंग से हमारे सम्मुख उपस्थित करने की अपूर्व दक्षता है। जहाँ उनकी रंगीन लेखनी ऐतिहासिक पृष्ठों से कथावस्तु का चयन कर तद्युगीन चिंतनधारा और वातावरण का यथार्थ (accurate) चित्र उपस्थित कर देती है, वहीं उनकी दृष्टि सामाजिक, राजनैतिक विषयों से वंचित नहीं होती। और सबसे बड़ी विशेषता उनकी यह है कि वे सभी चित्र फोटोग्राफी मात्र नहीं वरन् कवि के काव्य से सरस और जीवंत है।''[1] वर्माजी ने 1927 में 'गढ़कुंडार' के द्वारा उपन्यास लेखन के क्षेत्र में पदार्पण किया। इसके बाद वे सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास निरंतर लिखते रहे। वर्माजी द्वारा कुल 29 उपन्यासों की रचना की गई।

वृंदावन लाल वर्माजी द्वारा जब (1927) लेखन की शुरुआत की गई। वह समय भारतीय समाज में ऐसा था जहाँ एक ओर स्वतंत्रता के लिए प्रयास के रूप में 1857 की क्रांति, 1885 में कांग्रेस की स्थापना, 1920 में असहयोग आन्दोलन, 1930 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन जैसी महत्वपूर्ण घटनाएँ शामिल हैं वहीं दूसरी ओर रेल, तार, प्रेस, टेलीफोन, जहाज जैसे वैज्ञानिक आविष्कारों के विकास तथा शिक्षा के प्रसार के कारण सामाजिक चेतना जागृत हो रही थी। तत्कालीन परिवेश पर टिप्पणी करते हुए पंडित जवाहर लाल नेहरू लिखते हैं ''इस शताब्दी का अध्ययन कोई आसान काम नहीं है। यह एक विशाल दृश्य है, एक महान चित्र है और चूँकि हम उसके इतने नजदीक हैं, इसलिए यह हमें पहले की सदियों की बनिस्बत ज्यादा बड़ी और धनी मालूम होती है। जब हम इस सदी के गूंथने वाले हजारों धागों को सुलझाने की कोशिश करते हैं तो उसकी यह विशालता और उलझन कभी-कभी हमें घबरा देती है। यह सदी मशीनों की आश्चर्य भरी उन्नति की सदी थी - औद्योगिक क्रांति की। रेल, तार, टेलीफोन, जहाज, मोटरकार और अंत में हवाई जहाज इत्यादि का आविष्कार इसी युग में हुआ। यह सदी यूरोप की समृद्धि, खासकर इंग्लैण्ड की उन्नति की सदी थी। यूरोपीय साम्राज्यवाद सारे एशिया अफ्रीका की छाती पर जमकर बैठ चुका था।''[2] परिणामत: ऐसे शिक्षित मध्यवर्ग का उदय हुआ जो धार्मिक और सामाजिक रुढ़ियों से मुक्त होकर तार्किक और बौद्धिक आधार पर जीवन जीने में विश्वास करता था। यही शिक्षित मध्यवर्ग समाज सुधारक तथा साहित्यकार के रूप में सामने आया।

नवजागरण के कारण जो सामाजिक चेतना जागृत हुई। उसके परिणामस्वरूप भारतीय बुद्धिजीवियों में राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, स्वामी दयानंद सरस्वती, विवेकानंद आदि ने समाज सुधार व राष्ट्रीय आंदोलन को अपने जीवन का ध्येय बना लिया। नवजागरण काल में भारतीय बुद्धिजीवियों

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

के आन्दोलन पर टिप्पणी करते हुए डॉ. सुमन राजे लिखती हैं कि ''इन सभी आन्दोलनों ने 'स्त्री विमर्श' को मुद्दा बनाया।''[3] भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने भारतीय स्त्री को भी प्रभावित किया। अनेक कुप्रथाओं व समस्याओं से घिरी भारतीय स्त्री घर की चारदीवारी को छोड़ राष्ट्रीय आंदोलन में अपनी उपस्थिति दर्ज ही नहीं करवाती बल्कि इस आंदोलन में सक्रिय रूप से भागीदार भी बनती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन व स्त्री मुक्ति आंदोलन साथ-साथ चलते हुए दिखाई देते हैं। कमला देवी के अनुसार ''गांधीजी ने महिलाओं को मुक्ति की राह दिखाई। पहली बार स्त्री को अपनी व्यक्तिगत सत्ता का आभास हुआ। जीवन के उद्देश्य की राह दिखाई दी, समाज में रूढ़िवादी बंधनों से मुक्ति के प्रति जागरूक किया तथा यह भी वह भली-भांति समझ सकने योग्य हुई कि उसके उत्थान में ही देश का पुनरुत्थान निहित है। अपनी दुर्बलता के दुःस्वप्न से वह जाग उठी और शक्तिरूपा बन गयी। अपने महत्व का आभास उसके लिए एक अद्भुत अनुभव था। राष्ट्र की परिपूर्णता का वह माध्यम है। घर की चार दीवारी से बाहर संपूर्ण विश्व ही उसी का जगत् है, यह उसने अब जान लिया था।''[4]

राष्ट्रीय आंदोलन के इस युग में सन 1920 के श्रमिक आंदोलन सन 1930 के सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा सन 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी को देखा जा सकता है। राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं को शामिल करने में गांधीजी की महत्वपूर्ण भूमिका रही। मधु किश्वर का कहना है कि ''गांधीजी ने पारंपरिक प्रतीकों को सकारात्मक ढंग से इस्तेमाल करके महिलाओं को राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल होने के लिए एक तरह से मजबूर किया। राष्ट्रीय आंदोलन में गांधीजी के आने से राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं के विषय में सोच बदली।''[5] राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाएँ जेल गईं, कई महिला संगठनों का निर्माण किया गया जिनका कार्य महिलाओं की नीति और कार्य को तय करना था। राष्ट्रीय आंदोलन में जहाँ अनेक महिलाओं की भागीदारी रही। वहीं एनी बेसेंट, सरोजिनी नायडू, अरूणा आसफ अली, विजया लक्ष्मी पंडित, कमला देवी चट्टोपाध्याय जैसी नेत्रियाँ उभरकर सामने आई। वर्माजी ने अपने जीवनकाल में स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता के बाद दोनों राजनीतिक स्थितियों को देखा और अपने युग की राजनीतिक चेतना से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। ''स्वतंत्रता पूर्व स्वातंत्र्य चेतना उनके प्रत्येक ऐतिहासिक उपन्यास में है। स्वतंत्रता के बाद नवनिर्माण की चेतना है।''[6] राष्ट्रीय आंदोलन के युग में अंग्रेजों से स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने के लिए तथा अपने राजनैतिक हितों की रक्षा के लिए राजनीतिक सूझ-बूझ, देश के प्रतिनिष्ठा तथा कर्तव्य पालन की आवश्यकता थी। अतः इसी राजनीतिक चेतना को ध्यान में रखते हुए वर्माजी द्वारा ऐतिहासिक उपन्यासों में स्त्री पात्रों का चित्रण किया गया।

स्त्री पात्रों की राजनीतिक चेतना: वर्माजी द्वारा रचित उपन्यासों में 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'रामगढ़ की रानी' तथा 'महारानी दुर्गावती' उपन्यासों की रचना का आधार ही राष्ट्रीयता की भावना है। इन उपन्यासों के मुख्य स्त्री पात्र क्रमशः 'रानी लक्ष्मीबाई', 'रानी अवंतीबाई' और 'महारानी दुर्गावती' राष्ट्रहित के लिए अपने प्राणों की भी आहुति दे देती हैं। 'रानी लक्ष्मीबाई' राजा गंगाधर राव के देहांत के पश्चात् शासन व्यवस्था को संभालने के लिए नाना साहब और तात्या से अपने पड़ोसी राज्यों के बारे में जानकारी ग्रहण करती है।[7] रानी एक कुशल राजनीतिज्ञ की भांति प्रशासनिक कुशलता का आधार जनता को मानते हुए नाना व तात्या से कहती है ''जनता असली शक्ति है मुझको विश्वास है कि वह अक्षय है। छत्रपति ने जनता के भरोसे ही इतने बड़े दिल्ली सम्राट को ललकारा था। राजाओं के भरोसे नहीं।''[8] शशि भूषण सिंहल लिखते हैं कि ''उपन्यास का ध्येय या 'कार्य' रहता है-स्वराज्य प्राप्ति। मनुबाई बचपन से देश की स्वतंत्रता के स्वप्न देखती है। झांसी के राजा से विवाहित होने तथा झांसी का राज्य संभालने पर भी उसकी दृष्टि से वह महान् लक्ष्य ओझल नहीं होता है। उसके लिए झांसी की राज्य प्राप्ति स्वर्ग की सीढ़ी नहीं है वरन् देश में स्वराज्य स्थापना की दिशा में एक पग मात्र है।''[9] उपन्यास में रानी लक्ष्मीबाई का संपूर्ण चरित्र राष्ट्रीयता व स्वाधीनता की भावना से ओत-प्रोत है। उपन्यास के अन्य सभी पात्रों में मोतीबाई, जूही, सुंदर, मुंदर, काशी, झलकारी, बख्शिन आदि रानी व राज्य के लिए अपने प्राणों का बलिदान देती हैं।

महारानी दुर्गावती उपन्यास में 'महारानी दुर्गावती' का चरित्र राष्ट्रीय चेतना से युक्त है। 'महारानी दुर्गावती' कुशल प्रशासक, प्रजावत्सल, जनकल्याण में तत्पर, युद्ध कौशल

से युक्त, उदारता, वीरता, साहस और शौर्य से युक्त महारानी है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद के शब्दों में ''दुर्गावती मध्यकाल की वीर नारी थी। वे स्वतंत्रता का प्रतीक है अकबर जैसे शासक के सामने केवल राणा प्रताप और दुर्गावती नहीं झुके। इसलिए यह दोनों ऐतिहासिक पात्र भारतीय जनता के लिए प्रेरणा के स्रोत है।''[10] महारानी दुर्गावती महाराज दलपति शाह के देहांत के बाद राज्य का कार्यभार संभालती हैं। प्रजा के कष्टों व हितों को समझते हुए कुशल प्रशासिका की तरह अपने दीवान अधारसिंह को राजकोष जनहित के लिए खर्च करने का आदेश देती है। उनके लिए प्रजा का कष्ट दूर करना और प्रजा के लिए कल्याणकारी कार्य करना प्रशासन का अनिवार्य अंग है। महारानी दुर्गावती दीवान से कहती है: ''विपद्काल के लिए कुछ अवश्य रख लिया जाए, शेष जनहित कार्यों में लगा दिया जाए, क्योंकि राज्य के लिए पहली विपद् है जनकष्ट।''[11] महारानी अपने मंत्रियों व सरदारों को भी समय-समय पर उनके युद्ध कौशल व कार्यकुशलता के लिए उचित सम्मान व पुरस्कार देती हैं। प्रजाहित में महारानी 'रानीताल' और 'रामचेरीताल' का निर्माण करवाती हैं। अतिवृष्टि के कारण लगान वसूलने में नम्रता बरतती हैं। महारानी दुर्गावती का विदेशी आक्रमणकारियों के विषय में मत है कि ''हमारे आपसी कलह ने और जनहित-कार्यों की उपेक्षा ने ही बुरे दिन दिखलाएं, अन्यथा विदेशी यहाँ अपने पैर न जमा पाते।'' उपन्यास के उत्तरार्ध में महारानी दुर्गावती का संपूर्ण चरित्र राष्ट्रीय चेतना की भावना से ओत-प्रोत है। राज्य की उन्नति, सुरक्षा, अखंडता तथा जनहित कार्य के लिए महारानी का चरित्र प्रेरणादायक है।

रामगढ़ की रानी उपन्यास में 'रानी अवंतीबाई' में साहस, शौर्य तथा राजनीतिक कुशलता है। स्वातंत्र्य चेतना से युक्त रानी अवंतीबाई अंग्रेजों के सामने आत्मसमर्पण न करके युद्ध करती हैं। अवंतीबाई निश्चय करती हैं ''लड़ते-लड़ते भले ही जाऊँ, परंतु परदेशियों के भार से दबूँगी नहीं।''[12] अंत में अंग्रेजों के हाथ पड़ने की आशंका से आत्मघात कर लेती हैं। किंतु स्वतंत्रता के आंदोलन में ऐसी अमिट छाप छोड़ जाती हैं जो राष्ट्र के लिए कर्त्तव्य पालन हेतु प्रेरित करती रहेगी। उपन्यास में रानी की प्रजा वत्सलता और संगठन क्षमता को विशेषत: उभारा गया है।

वर्माजी द्वारा राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर भारतीय इतिहास से ऐसी नारियों को लेकर उपन्यासों की रचना की गई जो तत्कालीन समाज में भी राष्ट्रीय कर्त्तव्य की भावना भर दे। उपन्यासों की यह तीनों रानियां राष्ट्रप्रेम का संचार करती हैं। ये विधवा होने के पश्चात् भी राज्य की बागडोर कुशलता से संभालती हैं। राज्य के लिए इनका त्याग और आत्मोत्सर्ग व्यष्टि के द्वारा समष्टि को राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य निर्वाह के लिए प्रेरित करता है।

स्त्री पात्रों की राजनीतिक कुशलता का महत्वपूर्ण उदाहरण देवी 'अहिल्याबाई' का जीवन है। वर्माजी द्वारा 'अहिल्याबाई' उपन्यास में अहिल्याबाई के प्रशासनिक गुणों को विशेषत: उभारा गया है। 'अहिल्याबाई' के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है: 'जनहित के लिए अथक कार्यों को करने की भावना।' अहिल्याबाई का राज्य तथा प्रजा के हित के लिए समर्पण, उन्हें देवी के पद पर आसीन करता है। अहिल्याबाई के संदर्भ में वर्माजी लिखते हैं: ''अहिल्याबाई ने अपने राज्य की सीमाओं के बाहर भारत-भर में प्रसिद्ध तीर्थों और स्थानों में मंदिर बनवाए, घाट बँधवाएँ, कुओं और बावड़ियों का निर्माण किया, मार्ग बनवाएँ-सुधरवाएँ, भूखों के लिए अन्नसत्र (अन्नक्षेत्र) खोल, प्यासों के लिए प्याऊ बिठलाई, मंदिरों में विद्वानों की नियुक्ति शास्त्रों के मनन-चिंतन और प्रवचन हेतु की और आत्म-प्रतिष्ठा के झूठे मोह का त्याग करके सदा न्याय करने का प्रयत्न करती रहीं-मरते दम तक। ये उसी परंपरा में थीं जिसमें उनके समकालीन पूना के न्यायाधीश राम शास्त्री थे और उनके पीछे झांसी की रानी लक्ष्मीबाई हुई। अपने जीवनकाल में ही इन्हें जनता 'देवी' समझने और कहने लगी थी। इतना बड़ा व्यक्तित्व जनता ने अपनी आँखों देखा ही कहाँ था।''[13]

वर्माजी के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों के स्त्री पात्रों में 'मृगनयनी' उपन्यास की मृगनयनी, 'कीचड़ और कमल' की पद्‌मावती, सोमा और प्रमिला तथा 'डूबता शंखनाद' की यशू बाई राज्य तथा प्रजा के हित के लिए प्रशासनिक कार्यों में रुचि लेती हैं। 'सोती आग' उपन्यास की कोकीजू, 'डूबता शंखनाद' की सोमराबाई तथा 'माधवजी सिंधिया' की ताराबाई अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही प्रशासनिक कार्यों में दखल देती हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों के स्त्री पात्र राजनीति क्षेत्र में अपनी कार्यकुशलता का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। जिसका प्रमुख कारण तत्कालीन समाज में भारतीय राजनीति में स्त्रियों की दिनोंदिन बढ़ती जा रही भागीदारी तथा वर्माजी का भारतीय स्त्री की

राजनीतिक कार्यकुशलता पर अटूट विश्वास है। वे अपनी बात को ऐतिहासिक तथ्यों और पात्रों के आधार पर और भी मजबूती से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

इतिहास प्रसिद्ध पात्रों के अतिरिक्त वर्माजी ऐसे पात्रों को भी इतिहास के गर्भ से निकाल कर लाते हैं जिन्हें इतिहासकारों द्वारा महत्त्व नहीं दिया गया किंतु भारतीय स्वाधीनता संग्राम में उनके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। ''झांसी की रानी लक्ष्मीबाई'' उपन्यास की 'झलकारी' भारतीय स्वाधीनता संग्राम में दलित स्त्रियों के साहस और आत्मत्याग की अमिट छाप पाठकों के हृदय पर छोड़ जाती है। वर्माजी की विशेषता यह है कि वे स्वाधीनता संग्राम में साधारण तथा निम्नवर्ग के योगदान को रेखांकित करना नहीं भूले हैं। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई उपन्यास की पात्र झलकारीबाई पर मोहनदास नैमिशराय द्वारा 'वीरांगना झलकारीबाई' उपन्यास की रचना की गई। जिसमें उन्होंने इतिहासकारों द्वारा तथा अंग्रेजों द्वारा दलित वर्ग के स्वाधीनता संग्राम में योगदान व आत्म बलिदान को महत्त्व न दिए जाने पर कुठाराघात करते हुए निम्न जाति की झलकारी के वीरता, साहस और निःस्वार्थ भाव से आत्मत्याग की भावना को रेखांकित किया है।

वृंदावन लाल वर्माजी नारी विषयक् युगीन चेतना को आत्मसात करते हुए भारतीय नारी को स्वतंत्रता आंदोलन की प्रेरक शक्ति के रूप में चित्रित करते हैं रानी लक्ष्मीबाई, महारानी दुर्गावती, रामगढ़ की रानी और अहिल्याबाई की राजनीतिक चेतना राष्ट्र के अस्तित्व की रक्षा से जुड़ी हुई है। इसी कारण यह पात्र देश के स्वतंत्रता आंदोलन में अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं।

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
लेडी श्रीराम कॉलेज फॉर वीमेन
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. सियारामशरण प्रसाद, वृंदावन लाल वर्मा: साहित्य और समीक्षा, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 1960, पृ. 22
2. जवाहरलाल नेहरू – विश्व इतिहास की झलक, सस्ता साहित्य मंडल, 15वाँ संस्करण, 2011, पृ. 129
3. डॉ. सुमन राजे – हिंदी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, छठा संस्करण, 2017, पृ. 227
4. डॉ. एन. राधाकृष्णन्, महात्मा गांधी और सामाजिक न्याय, गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, नई दिल्ली 11, पृ. 119
5. साधना आर्य (संपादक), नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पृ. 168
6. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद (संपा.) वृंदावन लाल वर्मा समग्र खंड 5, हिंदी प्रचारक पब्लिकेशनस वाराणसी, 1996, पृ. 1
7. वृंदावन लाल वर्मा, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 99–100
8. वृंदावन लाल वर्मा, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 101
9. शशि भूषण सिंहल, उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1960, पृ. 72
10. विश्वनाथ प्रसाद (संपा.), वृंदावन लाल वर्मा समग्र खंड 5, हिंदी प्रचारक पब्लिकेशनस वाराणसी–221010, 1996, पृ. xxii
11. वृंदावन लाल वर्मा, महारानी दुर्गावती, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 173
12. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद (संपा.) वृंदावन लाल वर्मा समग्र खंड 6, हिंदी प्रचारक संस्थान वाराणसी, 1997, पृ. 86
13. वृंदावन लाल वर्मा–अहिल्याबाई (परिचय से), प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 8

संस्कृत नाटकों में अभिनेता तथा अभिनय की भूमिका

ममता

शोध सारांश

अभिनय तथा अभिनेता दोनों शब्द परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। किसी भी नाटक का मंचन करने के लिए अभिनेता तथा अभिनय दोनों की आवश्यकता होती है। संस्कृत नाटकों में दोनों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इन दोनों के बिना किसी भी नाटक का मंचन नहीं किया जा सकता है। अपने अभिनय के माध्यम से नाटक की कथावस्तु को प्रभावशाली बनाने वाले पात्र को 'अभिनेता' शब्द से संबोधित किया जाता है। एक अभिनेता की पहचान उसके अभिनय से होती है। अभिनेता शब्द से केवल नायक तथा नायिका का ही बोध नहीं होता है अपितु नाटक में प्रयुक्त सूत्रधार, विदूषक इत्यादि सभी पात्रों का भी समावेश होता है। सभी अभिनेताओं में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी भूमिका के मध्य में निरंतर अंतर्द्वंद्व होता रहता है । एक कुशल अभिनेता ही दोनों परिस्थितियों के मध्य में सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ हो पाता है। किसी भी सफल नाटक के मंचन का श्रेय उसके सभी कलाकारों को ही दिया जाता है। संस्कृत साहित्य में अभिनय की उत्पत्ति वैदिक काल से ही मानी जाती है। उसके बाद आचार्य भरतमुनि जी ने सर्वप्रथम अपने नाट्यशास्त्र में अभिनय तथा अभिनेता पर विस्तृत प्रकाश डाला है। नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्य से संबंधित सभी विषयों का विस्तृत विवेचन हमें प्राप्त होता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को आधार बनाकर इस शोध पत्र के माध्यम से अभिनय तथा अभिनेता दोनों पर प्रकाश डालने की कोशिश की जाएगी।

कूट शब्द - नाट्यशास्त्रीय, अनुकर्ता, सम्प्रेषण, कविकल्पित।

भूमिका

आदिकाल से ही मनुष्य अपनी शारीरिक क्रियाओं के माध्यम से अपने भावों को प्रकट करता आया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति सभी प्राणियों में समान रूप से पायी जाती है। नाटकीय क्रियाओं द्वारा मनुष्य अपनी भावनाओं को दूसरों तक आसानी से पहुँचा सकता है। इनसे ही धीरे-धीरे आंगिक चेष्टाओं तथा मुखमुद्राओं की उत्पत्ति हुई थी। इन सभी चेष्टाओं को नाट्यशास्त्र में अभिनय के नाम से सम्बोधित किया जाता है। अभिनय के माध्यम से ही कथावस्तु को प्रभावशाली बनाकर दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

आचार्य भरतमुनि ने ही सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में अभिनयकला का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। भरतमुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्र नाट्य से सम्बन्धित सभी विषयों का वर्णन करने वाला प्राचीनतम ग्रन्थ है। आचार्य भरतमुनि नाट्यशास्त्र में कहते हैं कि संसार का स्वभाव सुख और दुख दोनों से मिश्रित है और जब एक अभिनेता द्वारा आङ्गिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य अभिनय का प्रयोग करते हुए रंगमच पर इनको प्रदर्शित किया जाता है तब उसे नाट्य कहा जाता है।

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।।119।।[1]

अभिनय की परिभाषा-

अभि उपसर्ग ''णीञ् प्रापणे'' धातु ''अच्'' प्रत्यय के संयोग से 'अभिनय' शब्द की उत्पत्ति हुई है।[2] सामान्यतः दर्शकों के समक्ष अभिनेताओं द्वारा आरोपित भावों की

अभिव्यक्ति को अभिनय कहा जाता है।

विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः।

शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः ।।7।।[3]

अभिनय का सम्बन्ध पात्रों की उन समस्त क्रियाओं एवं चेष्टाओं से होता हैं जिनके माध्यम से नाटक का तात्पर्य अत्यन्त प्रभावशाली रूप में दर्शकों के समक्ष प्रकट हो जाता है। नाटक का लेखन कार्य भी अभिनय हेतु ही किया जाता है। कृष्ण, राधा, रामादि अनुकार्यो का नटादि अनुकर्ता के द्वारा चारों अभिनयों के माध्यम से किया गया अनुकरण ''अभिनय'' कहलाता है।

सामान्यतया अभिनय हेतु अनुकरण, अनुकर्ता, अनुकार्य इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। अनुकरण का सामान्य अर्थ है-चतुराभिनयों के माध्यम से कथावस्तु का अनुकरण करना है तथा कवि द्वारा रचित रचना में सीता, शकुंतला, राम, दुष्यंत इत्यादि के चरित्रों का जब नट-नटी के द्वारा अभिनय करने की कोशिश की जाती है तब उसे अनुकार्य के नाम से सम्बोधित किया जाता है और जब एक नट अभिनय के माध्यम से किसी का अनुकरण करता है तब उसे वास्तविक अनुकर्ता या अभिनेता के नाम से जाना जाता है।

अभिनय के भेद-

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में अभिनय भेदों (आंगिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य) पर चर्चा की है। सभी दृश्यकाव्यों में भरतोक्त अभिनयों के माध्यम से दर्शकों को आनंदानुभूति करायी जाती है।

आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्विकस्तथा।

ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकीर्तितः।।9।।[4]

1. आङ्गिक अभिनय -

एक कुशल अभिनेता अपने आङ्गिक अभिनय में मानसिक व शारीरिक दोनों क्रियाओं में तारतम्य स्थापित करता है। आङ्गिक अभिनय द्वारा भावों, विचारों तथा हमारी इच्छाओं को विविध अंगों तथा उपांगों, प्रत्यंगों के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है। आङ्गिक अभिनय को तीन भागों में विभाजित किया गया है।[5]

1. शारीरज- अंगों, उपांगों, प्रत्यंगों से सम्पन्न अभिनय शारीरज है।

2. मुखज - उपांगों द्वारा किया गया अभिनय मुखज होता है।

3. चेष्टाकृत - आसन, स्थान इत्यादि के रूप में सम्पन्न चेष्टाएँ चेष्टाकृत हैं।

अपितु अभिनय में शरीर के सभी अवयवों का समान योगदान होता है फिर भी भरतमुनि ने अभिनय में प्रयुक्त मुख्य रूप से सहायक अवयवों को ही तीन भागों में विभाजित किया है- अंग, उपांग, प्रत्यंग स इस प्रकार आंगिक अभिनय के सभी भेदों, उपभेदों का विस्तृत वर्णन नाट्यशास्त्र में किया गया है, जो बहुत ही महत्वपूर्ण है।

2. वाचिक अभिनय :

वाणी के माध्यम से सम्पन्न किया जाने वाला कार्य वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आता है। रस तथा भावों के अनुसार ही वाचिक अभिनय में वाणी का अनुकरण किया जाता है। अभिनेता रंगमंच पर मुख से जो भी कहता है वह सम्पूर्ण वाग्व्यापार वाचिक अभिनय में समाहित होता है। साहित्य में सर्वदा से शुद्ध वाणी का ही प्रयोग होता आया हैं किंतु नाट्य अभिनय में मध्य मध्य में अशुद्ध वाणी का प्रयोग भी किया जा सकता है जैसे- चिड़ियों की चहचाहट, सीटी बजाना या रथ तथा विमान की आवाज इत्यादि सभी प्रकार की ध्वनियों को मुख से निकालना भी वाचिक अभिनय के अंतर्गत आता है। वाचिक अभिनय में अभिनेता वाणी के आरोह-अवरोह को इस प्रकार से प्रयुक्त करता है, जिससे उसके द्वारा कहे गये शब्दों तथा वाक्यों का भाव और प्रभाव सही ढंग से बना रहता है और कहीं पर भी कृत्रिमता नहीं दिखायी देती है क्योंकि रंगमंच पर प्रयुक्त वाणी दर्शकों को काफी प्रभावित करती है।

इस प्रकार भरत ने वाचिक अभिनय के अन्तर्गत भाषा के समस्त अंगों जैसे-शब्द, छन्द, लक्षण, गुण-दोष, अलंकार, पाठ्यशैली इत्यादि का विस्तृत विश्लेषण किया है।

3. सात्विक अभिनय-

आचार्य भरतमुनि ने सात्विक अभिनय का वर्णन नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में किया है। सात्विक भाव की सम्यक अभिव्यक्ति ही सात्विक अभिनय में आती है।

सत्व शब्द का सम्बन्ध- मन में स्थित सूक्ष्म भावों से हैं। पात्रों के भावों को आत्मसात करने में योग्य अभिनेता को ही भावज्ञ माना जाता है। सात्विक अभिनय से अभिनेता की अभिनयकला की जानकारी भी दर्शकों को हो जाती है। एक कुशल अभिनेता ही सही ढंग से भावों की अभिव्यक्ति सही समय पर कर सकता है। अभिनेता जब अनुकार्य के सुख-दुख से युक्त भावों का अभिनय करता

है तब उसकी मानसिक अवस्था रामादि पात्रों की मानसिक अवस्था के साथ तन्मय और एकरस हो जाती है। उसके बाद ही दर्शक अभिनेताओं की चेष्टाओं में अनुकार्य रामादि की चेष्टाओं का अनुभव करते हैं।

4. आहार्य अभिनय–

आहार्य अभिनय अभिनयकला का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। विविध प्रकार के बहिरंग स्त्रोतों से आहरण की गई नाट्योपयोगी सामग्री को आहार्य कहा जाता हैं। इस अभिनय में पात्रों की वेश–भूषा, अलंकार, अंगरचना, मंच की दृश्य व्यवस्था इत्यादि बाह्य वस्तुओं से सम्पन्न किये जाने योग्य वस्तुओं का समावेश किया जाता है। आहार्य अभिनय का दूसरा नाम नेपथ्यविधि भी है। नेपथ्य रंगमण्डप का वह भाग है, जहां पर नाट्योपयोगी सामग्री को एकत्रित किया जाता है तथा मंच पर आने से पहले नेपथ्यगृह में अभिनेता अपनी भूमिका के अनुसार वेष–भूषा आदि को धारण करता है। इसलिए लक्षणा से इसे नेपथ्य भी कहते हैं। इस प्रकार आहार्य अभिनय के भेदों, उपभेदों का विस्तृत वर्णन भरतमुनि जी ने अपने ग्रन्थ में किया है।

अभिनेता

अभिनयकला में निपुण नट को अभिनेता कहते हैं। सभी नटों का अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। जब कोई अभिनेता किसी अभिनेय पात्र की मानसिक स्थिति और चरित्र का आत्मसात करता है, तब उसके बाद ही वह अपनी भूमिका का उचित निर्वहन करने में समर्थ हो सकता है। एक अभिनेता का वास्तविक कार्य दर्शकों तक अपनी भूमिका के पात्रों की भावनाओं और विचारों का सम्प्रेषण करना होता है। अभिनेता के रूप में उसकी यह जिम्मेदारी होती है कि वह दर्शकों तक अपने विचारों और भावों को सही ढंग से संप्रेषित करने की कोशिश करें। प्रभावपूर्ण प्रस्तुति के लिए अभिनेता को गहराई से अभिनय की जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है, उसके बाद ही वह उत्तम अभिनेता की श्रेणी में प्रसिद्ध होता है। रंगमंच पर व्यक्तित्व के अनुरूप ही भूमिका का निर्वहन करना स्वाभाविक होता है जैसे–कुंभकरण की भूमिका में यदि किसी सरल आकृतियुक्त अभिनेता को ले लिया जाए तो वह उसके अनुकूल प्रतीत नहीं होगी और दर्शकों को भी आनन्दानुभूति नहीं होगी। इसलिए नाट्य में व्यक्तित्व के अनुरूप ही अभिनेता का चयन करना चाहिए।

आचार्य भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित अभिनेताओं हेतु योग्यताएँ–

नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति के अवसर पर भरतमुनि जी अभिनेताओं के लिए कुछ आवश्यक योग्यताओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति सभी क्रियाओं में कुशल हैं, नाट्य के ग्रहण और धारण में समर्थ भी हैं और साथ ही साथ विदग्ध और प्रगल्भ हैं, ऐसे व्यक्ति को ही नाट्यवेद के प्रयोग के लिए नियुक्त करना चाहिये।

कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्च जितश्रमाः।
तेष्वयं नाट्यसंज्ञो हि वेदः संक्राम्यतां त्वया।।20।।[6]

- **कुशलता**– नाट्यकार्य में प्रवृत्त अभिनेता यदि अभिनेय वस्तु को ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग करने की योग्यता रखता है तभी वह सही ढंग से नाट्य अभिनय कर सकता है। सही ढंग से नाट्य का अभिनय करना ही कुशलता है।
- **विदग्धता**– अभिनेय विषय को ग्रहण, धारण करने वाला और ऊहापोह और तर्क–वितर्क में निपुण अभिनेता ही विदग्ध कहलाता है। निरंतर मनन करने से ग्रहण, धारण किया गया ज्ञान और उसका समुचित प्रयोग कभी भी विस्मृत नहीं होता है।
- **जितश्रमता**– अभिनय से सम्बन्धित सामग्री के ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग में आलस्य का अनुभव न करना ही जितश्रमता है। थकान और श्रम को जीतने वाला अभिनेता को 'जितश्रमी' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। नाटकीय वस्तु का बार बार अभ्यास करने से अभिनेता में स्फुरता आ जाती है, जिससे वह सही ढंग से नाट्य अभिनय रंगमंच पर करने में समर्थ हो जाता है। एक अभिनेता का शरीर हमेशा नीरोग, स्वस्थ व बलिष्ठ होना चाहिए।
- **प्रगल्भता**– सही समय पर ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग करना ही प्रगल्भता है। इस गुण से युक्त अभिनेता किसी भी सभा या दर्शकों की भीड़ में निर्भीक होकर रहता है। दर्शकों के मध्य निडरता और अभ्यस्त नाट्यवस्तु को निपुणता से प्रस्तुत करने वाला अभिनेता ही प्रगल्भ कहलाता है।

नाट्यशास्त्र में देवराज इन्द्र ने देवों को नाट्य–कर्म हेतु अयोग्य मानते हुये उनमें ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग की अक्षमता को ब्रह्मा जी को सूचित किया था। इसलिए अभिनेताओं को ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग इन सभी में

भी निपुण होना चाहिए, जिनको यहाँ पर वर्णित किया जा रहा है-

- **ग्रहण**- गुरु के सानिध्य में प्राप्त की गई विद्या को ''ग्रहण'' कहा जाता हैं। इसलिए गुरु द्वारा अभिनेता को जो अभिनय की शिक्षा दी जा रही है उसे वह सही ढंग से समझे और अधिग्रहित करें।
- **धारण**- गुरु के मुख से अधिगृहीत विद्या को कभी भी नहीं भूलना ही ''धारण'' है क्योंकि अभिनेता ने जिस गुरु से विद्या प्राप्त की है वह उसका मार्गदर्शन करने के लिए हमेशा इस संसार में उपस्थित रहेगा, यह तो आवश्यक नहीं है। इसलिए अभिनेता द्वारा ग्रहण की गई विद्या का कभी भी विस्मरणम ना हो अपितु उसकी धारणा शक्ति में वह ज्ञान हमेशा विद्यमान रहे।
- **ज्ञान**- ग्रहण और धारण की गई शिक्षा के विमर्शन में अभिनेता को हमेशा समर्थ होना चाहिए तथा उसके ऊहापोह और तर्क-वितर्क की क्रिया में अभिनेता हमेशा प्रयत्नशील रहे। शिक्षित और अधिगृहीत विद्या में अभिनेता द्वारा नवीन नवीन प्रयोग किये जाने चाहिए। निरंतर ऊहापोह से अधीत विद्या कभी भी विस्मृत नहीं होती।
- **प्रयोग**- अधिगृहीत विद्या का किसी परिषद् अथवा सभा के मध्य में कुशलतापूर्वक प्रदर्शन करना ही प्रयोग है। जो अभिनेता सैद्धांतिक रूप से अभिनय की बारीकियों को सीख लेता है, वह धारण और ज्ञान में सक्षम भी हो जाता है।

इस प्रकार भरतमुनि ने ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग में कुशल, विदग्ध, जितश्रमी और प्रगल्भ व्यक्ति को ही अभिनेता माना है। सभी कुशल अभिनेताओं में बार-बार अभ्यास, ग्रहण की गई विद्या की लगातार आवृत्ति और अधिगृहीत विषय के प्रति सतत प्रवृत्ति बहुत आवश्यक है तथा सफलतापूर्वक अभिनय करने के लिए प्रतिदिन व्यायाम, योग-क्रिया के माध्यम से आहार-विहार की क्रियाओं में संयम रखने में समर्थ व्यक्ति ही अभिनय कार्य में प्रवृत्त हो सकता है। सुखासक्त और सुखकामी, सुखद संसाधनों के प्रेमी व्यक्ति अभिनय हेतु अयोग्य माना गया है। वेद-शास्त्रों के ग्रहण, धारण और ज्ञान के लिये जिस परिश्रम और अभ्यास की आवश्यकता है वही परिश्रम और अभ्यास नाट्यवेद के धारण, ग्रहण और ज्ञान के लिये आवश्यक है।

निष्कर्ष-

आचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में अभिनय तथा अभिनेता पर विस्तृत प्रकाश डाला है। जब भी किसी नाटक की प्रसिद्धि होती है तब उसका श्रेय अभिनय में कुशल अभिनेताओं को दिया जाता है। अभिनय को प्रभावशाली बनाने के लिए शुद्ध तथा परिमार्जित भाषा, रंगमंच पर सही ढंग से प्रदर्शन करने की क्षमता इत्यादि सभी गुणों का समावेश एक अभिनेता में होना चाहिए। एक सफल संस्कृत नाटक के मंचन में अभिनेता तथा अभिनय की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

सहायक प्रोफेसर
संस्कृत विभाग
जानकी देवी मेमोरियल महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. नाट्यशास्त्र, प्रथमोअध्याय
2. नाट्यशास्त्र, अष्टम अध्याय
3. नाट्यशास्त्र, अष्टम अध्याय
4. नाट्यशास्त्र, अष्टम अध्याय
5. त्रिविधस्त्वाङ्गिको ज्ञेयःशरीरो मुखजस्तथा....।11।। नाट्यशास्त्र, अष्टम अध्याय
6. नाट्यशास्त्र, प्रथमोअध्याय

सन्दर्भग्रन्थसूची-

1. चतुर्वेदी, प्रो. बृजमोहन- नाट्यशास्त्र, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 1998
2. द्विवेदी, डा. मीरा - संस्कृतनाटय: अभिनय एवं पटकथा लेखन, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2019
3. रस्तोगी, सुधा-नाट्यशास्त्र, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1989

स्वच्छंदतावाद की अवधारणा और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियां

रोहित मिश्रा

हिंदी साहित्य में 'स्वच्छंदतावाद' शब्द का प्रयोग पाश्चात्य के 'रोमांटिसिज्म' के पर्याय के रूप में किया जाता है। अंग्रेजी साहित्य में 'रोमांटिसिज्म' का आरंभ 18वीं सदी के अंत से माना जाता है। मूल रूप में इस विचारधारा का उदय शास्त्रवाद या अभिजात्यवाद की प्रवृत्तियों के विरोध में हुआ जिसके संबंध में डॉ. बृजेन्द्र अग्निहोत्री ने लिखा है-''पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी विचारक साहित्य में प्रचलित दृष्टिकोण 'शास्त्रवाद' या 'अभिजात्यवाद' (Classicism) का विरोध करते हैं जो कविता के लिए निश्चित नियमों और अनुशासन के पालन को अनिवार्य मानता था।''[1]

साहित्य में स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) का प्रवर्तक विलियम वर्ड्सवर्थ और सैम्युल टेलर कॉलरिज को माना जाता है। सर्वप्रथम इन्होंने ही सन 1798 ई. में 'लिरिकल बेलेडस' (Lyrical Ballads) का प्रकाशन कर काव्य के शास्त्रीय बंधन को तोड़ा था। इस ग्रंथ का दूसरा संस्करण सन 1800 ई. में प्रकाशित हुआ जिसमें प्रकाशित भूमिका को अंग्रेजी स्वच्छंदतावाद के घोषणा पत्र (मेनिफेस्टो ऑफ रोमांटिसिज्म) की संज्ञा दी गई है।[2]

दरअसल, स्वछंदतावाद के आगमन से पूर्व साहित्य में वस्तुपरक शास्त्रीय नियमों का बंधन, परम्परा का रूढ़िगत प्रयोग आदि अत्यधिक बढ़ गया था जिसके कारण साहित्य नीरस और बोझिल बनता जा रहा था, किन्तु स्वच्छंदतावाद ने साहित्य में लय, छन्द, विषय-वस्तु इत्यादि में परिवर्तन किया और काव्य में नवीन ऊर्जा का सूत्रपात किया।

यद्यपि, 'स्वच्छंदतावाद' की अवधारणा साहित्य जगत में स्थापित होने में अत्यधिक समय लगा। यह धारा सिर्फ साहित्य शास्त्रीय बंधनों के प्रति विद्रोह ही नहीं थी, बल्कि इसकी स्थापना के सन्दर्भ में सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियाँ भी द्रष्टव्य है। इस सन्दर्भ में निर्मला जैन कहती हैं- ''इस सजगता और और विद्रोह के पीछे साहित्यशास्त्रीय ही नहीं, सामाजिक तथा राजनीतिक कारण भी है। रचनाकर्म की दृष्टि से वह युग एक बड़े परिवर्तन की माँग कर रहा साहित्य में गरिमा, संतुलन तथा अनुशासन लाने के लिए 17वीं-18वीं शताब्दी में 'बेन खोनसन 'ड्राइडन' पोप आदि ने जिस नत्य-अभिजान्यवादी दृष्टि को अपनाया था, वह अब रूढ़ परम्परा मात्र रह गयी प्राचीन साहित्य-सिद्धान्तों तथा आदर्शों के अनुकरण चेष्टा में साहित्य में बनावटी और आडंबरपूर्ण हो चला था। प्लेटो, अरस्तु, होरेस आदि की सदियों पुरानी कसौटियों पर खरे उतरने के प्रयास में वह अपने युग की आवश्यकताओं से कट गया था।''[3]

उक्त परिस्थितियों के कारण साहित्य क्षेत्र में परिवर्तन की नई धारा का उदय होने स्वाभाविक ही था जिसका दर्शन वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज की कविताओं में देखा गया। वर्ड्सवर्थ के अनुसार काव्य 'सशक्त भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति है' जो कविता को सहजता और सरलता प्रदान करता है। ऐसा भी नहीं है कि स्वच्छंदतावाद का आना सिर्फ साहित्यिक बदलाव के रूप में अनिवार्य था बल्कि यह अनेक सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण भी अवतीर्ण हुआ। यह कहा जाता है कि साहित्य समाज में लिखा जाता है और समाज की घटनाओं एवं हलचलों का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव साहित्य पर दृष्टिगोचर होता है। प्रेमचंद ने इस संबंध में कहा है कि ''साहित्यकार बहुधा अपने देश काल से प्रभावित होता है

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है।''[4]

स्वच्छंदतावाद के उदय के समय में यही हुआ। तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों ने इस काव्य आंदोलन को एक दिशा प्रदान की जिसके संदर्भ में प्रेमशंकर लिखते हैं-''पश्चिम में रोमांटिसिज्म के जन्म की पृष्ठभूमि में व्यापक आंदोलन विद्यमान हैं जिन्होंने समस्त जीवन दृष्टि को प्रभावित किया। मध्य युग के विनाश पर निर्मित नई संस्कृति को सशक्त अभिव्यक्ति देने वाली विचारधारा के रूप में उसे स्वीकार किया जाता है। चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक यूरोप में जो रेनेसाँ अथवा पुनर्जागरण युग आया, वह उदार सांस्कृतिक आंदोलन था जिसे हम आधुनिक युग की महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि कहते हैं। विज्ञान और उद्योग के क्षेत्र में कई क्रांतियाँ हुईं, जिन्होंने जीवन-दृष्टि को निर्विवाद रूप से प्रभावित किया और एक नए मानववाद का उदय हुआ।...यूरोप का पुनजागरण आधुनिक युग का शुभारम्भ है और हम जिस यूरोपीय स्वच्छंदतावाद की चर्चा करते हैं, उसकी पृष्ठभूमि में वह विद्यमान है।''[5]

स्वच्छंदतावाद के उदय के कारणों में फ्रांस की क्रांति को भी महत्वपूर्ण माना जाता है। सन 1786 ई. में हुई फ्रांस की क्रांति को प्रजा की जननी कहा जाता है जिसका प्रभाव केवल राजनीतिक जीवन पर ही नहीं अपितु इतिहास, संस्कृति, समाज, साहित्य एवं कला आदि अनेक क्षेत्रों पर पड़ा। इस सम्बन्ध में निर्मला जैन कहती है कि ''फ्रांस की राज्य क्रांति ने स्वच्छंदतावाद पर निषेधात्मक और विधेयत्मक दोनों प्रकार का प्रभाव डाला। सामंती मूल्य व्यवस्था के खिलाफ लड़ते हुए क्रांतिकारियों के समान ही स्वच्छंदतावादियों ने साहित्य के पारम्परिक शास्त्र नियम को नकार दिया।''[6]

आगे चलकर, यह काव्य आंदोलन व्यापक स्तर पर प्रसिद्ध हुआ और वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज के साथ शैली, कीटस, विक्टर ह्यूगो, गोथे, ब्रायन आदि प्रसिद्ध कवियों ने इसका समर्थन किया। इन कवियों ने परंपरा से चली आ रही रूढ़ि काव्य परंपरा को त्याग कर नवीन काव्य प्रवृत्तियों को अपने काव्य का विषय बनाया जिनमें वैयक्तिकता, आत्मनिष्ठता, कल्पना का स्वच्छंद प्रवाह, भावातिरेक एवं भाव प्रवणता, प्रकृति प्रेम, रहस्यवाद इत्यादि का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्तियों के संबंध में विष्णुचन्द्र ने लिखा है- ''हर प्रकार के प्रतिबंधों, साहित्यिक परम्पराओं और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, व्यक्तिवाद, मनुष्य और किसी अज्ञात, अलौकिक, रहस्य शक्ति में गहरी रूचि कल्पना की उन्मुक्त, निराशा, पलायन उसे नए पूँजीवादी समाज संबंधों के प्रति घोर असंतोष की भावना स्वच्छंदतावादी साहित्य-धारा की ये चारित विशेषताएँ है।''[7]

विद्रोह इस विचारधारा का प्रमुख आधार है जिसकी मुख्य प्रेरणा फ्रांसीसी क्रांति रही है। साहित्य में यह विद्रोह जड़ता, रूढ़ियों तथा अप्रासी लेखन परम्पराओं से लेखक की मुक्ति के प्रयास में दिखाई देता है। यह साहित्य की अंतर्वस्तु रूप के दोनों स्तरों पर उपस्थित है। विषयवस्तु स्तर पर स्वच्छंदतावादी रचनाकारों ने उदात्त चरित्रों की गाथा के स्थान पर साधारण मानव के सामाजिक अनुभवों तथा अपने परिवेश तथा प्रकृति के सहज सामान्य रूपों को अंकित किया है। जनसाधारण जीवन में यह रूचि कृत्रिमता के विरुद्ध स्वाभाविकता और सहजता की प्रतिष्ठा करती है।

इस धारा की अन्य सभी विशेषताओं में भावतरलता भी एक प्रमुख विशेषता है। स्वयं वर्ड्सवर्थ ने इस सन्दर्भ में कहा भी है कि-"All good poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings" 8 अर्थात् 'कविता मानव मन की बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन है।'

उनके अनुसार कविता संतुलित मनोदशा का परिणाम होती है जो साधारण जीवन की परिस्थितियों पर केंद्रित सरल व जनभाषा में लिखी गयी होती है।

'कल्पना' को भी स्वच्छंदतावाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति माना जाता है। यह काव्य की विधायिनी शक्ति होती है जो बाह्य जगत को भावों के माध्यम से सूक्ष्म रूप में प्रकट करती है।

कल्पना की इस क्षमता के बल पर ही कवि सामान्य तथा स्थूल वस्तु के साक्षात्कार से भी एक अतींद्रिय, अमूर्त रहस्यमय लोक में या किसी नैतिक और दार्शनिक और दार्शनिक सत्य तक पहुँच जाता है। सेम्युअल टेलर कोलरिज ने 'बायोग्राफिया लिटरेटिया' में 'कल्पना' को एक काव्य सिद्धांत का रूप दे इसकी वृहद व्याख्या की है। वे कहते हैं-"The IMAGINATION then, I consider either as primary, or secondary. The primary IMAGINATION I hold to be the living Power and prime Agent of all human Perception, and as a repetition in the finite mind

of the eternal act of creation in the infinite I AM. The secondary Imagination I consider as an echo of the former, co-existing with the conscious will, yet still as identical with the primary in the kind of its agency, and differing only in degree, and in the mode of its operation. It dissolves, diffuses, dissipates, in order to recreate; or where this process is rendered impossible, yet still at all events it struggles to idealize and to unify. It is essentially vital, even as all objects (as objects) are essentially fixed and dead."

अर्थात्, ''मेरे विचार में कल्पना या तो मुख्य होती है या गौण। मुख्य कल्पना तो मेरे अनुसार समस्त मानवीय ज्ञान की जीवन्त शक्ति और प्रमुख माध्यम होती है; वह असीम में होनेवाली अनन्त सृजन-प्रक्रिया की ससीम मन में आकृति होती है। गौण कल्पना के मैं मुख्य कल्पना की छायामात्र समझता हूँ, सचेतन संकल्प शक्ति के साथ उसका सहअस्तित्व होता है, परन्तु फिर भी माध्यम का प्रकार वह वैसी ही होती है, जैसी मुख्य कल्पना-अन्तर होता है मात्रा का और क्रिया-विधि का पुनः सृजन के निमित्त उसका तिरोधान विकिरण, विघटन होता है, जहाँ वह प्रक्रिया असम्भव होती है वहाँ भी आदर्शीकरण तथा एकीकरण का प्रयत्न तो होता ही है। वह मूलतः सजीव होती है... वैसे ही जैसे (वस्तुओं के रूप में) सभी वस्तु मूलतः अचल और निर्जीव होती हैं।''[9]

यहाँ कोलरिज का विचार है कि कल्पना या तो मुख्य अथवा मौलिक (primary IMAGINATION) होती है, या गौण (secondary) अथवा ललित। कोलरिज मौलिक अथवा मुख्य कल्पना को मनुष्य की समझ तथा गौण कल्पना को तार्किकता से जोड़ते हैं और इन दोनों में वे गौण कल्पना को अधिक प्राथमिकता देते हैं।

स्वच्छंदतावादियों ने अपने काव्य में वैयक्तिता तथा आत्मपरकता को एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया। स्वच्छंदतावाद ने वस्तुगत ज्ञान की अपेक्षा स्व-अनुभव को अधिक महत्व दिया और इस युग के साहित्यकारों की रचनाओं में अभिजात्यवादी निर्वैयक्तिकता के स्थान पर रचनाकार की अपनी दृष्टि और अपनी अनुभूति सहज तथा आत्मीय रूप में अभिव्यक्त हुई।

रचनाकारों के अपने सुख-दुख भी कविता तथा निबंधों के विषय बने। यही कारण है कि इस युग के साहित्य में भावाकुलता के साथ विषाद का भाव भी मिलता है जो समाज तथा स्थितियों के संघर्ष के क्रम में संवेदनशील व्यक्ति की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है।

स्वच्छंदतावाद में परंपरा से चली आ रही सौंदर्य दृष्टि को भी एक नवीन आयाम प्राप्त हुआ। इस धारा के कवियों ने गुरु-गम्भीरता के स्थान पर सौन्दर्य को अधिक महत्व दिया। कीट्स के शब्दों में 'सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौंदर्य।' (Beauty is truth] truth beauty)[10]

इसके साथ ही, प्रकृति के प्रति आकर्षण भी स्वच्छंदतावादियों की एक प्रमुख विशेषता थी। स्वच्छंदतावदी कवियों ने प्रकृति के प्रति अपने प्रेम व आकर्षण को अनेक रूपों में अभिव्यक्त किया है। स्वच्छंदतावादी कवियों में प्रकृति के बनावटी रूप के स्थान पर सहज रूप को अपनाया है। वर्ड्सवर्थ इस मामले में अन्य सभी स्वच्छंदतावादी कवियों में से विशिष्ट रहे है। इस संबंध में डॉ. प्रेमशंकर कहते हैं कि ''प्रकृति तथा मानव को साथ-साथ लेकर चलने की प्रक्रिया में वह एक बेजोड़ कवि है। इसके पूर्व ऐसा माना जाता था कि प्रकृति में रमना एक प्रकार की सन्यासी वृत्ति है, पलायनवाद है, पर प्रकृति को 'मनुष्य का शिक्षक' स्वीकार करके उसे सर्वोच्च स्थान देते हुए भी वर्ड्सवर्थ ने उसका उपयोग मानव जीवन को अधिका खुशहाल बनाने के लिए करना चाहा और इस उसकी महान काव्यसिद्धि कहा जाएगा।''[11]

उक्त प्रवृत्तियों के अतिरिक्त जिस प्रवृत्ति को स्वच्छंदतावाद की सबसे प्रमुख देन माना जाता है वह है उसकी शिल्पगत परिवर्तन। स्वच्छंदतावाद में परंपरा से चले आ रहे छंदबद्ध काव्य के बंधन को तोड़कर उसे नवीन छंद प्रदान किया। यह नवीन छंद कवि अपनी सुविधा अनुसार निर्माण करता था जिससे कविता की अभिव्यक्ति क्षमता में अधिकाधिक वृद्धि हुई।

इसके साथ ही व्याकरण निष्ठ तत्सम भाषा के स्थान पर जनभाषा के प्रचलित शब्दों को काव्य का अंग बनाया गया जिससे कविता सीधे रूप से सामान्य जनता से जुड़ने लगी। 'वर्ड्सवर्थ' ने तो आम बोलचाल की भाषा को ही काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार करने का आग्रह किया। इन्हीं प्रवृत्तियों को आधार बनाकर हिंदी साहित्य में 'छायावाद' आरम्भ हुआ जो हिंदी साहित्य के विकास का एक प्रमुख चरण माना जाता है।

निष्कर्षतः, कहा जा सकता है कि अंग्रेजी साहित्य में 'रोमांटिसिज्म' शब्द का प्रयोग अठारहवीं शताब्दी के अंत

में आरम्भ हुआ जो धीरे-धीरे न केवल पश्चिमी देशों में अपितु विश्व के अनेक देशों में भी प्रचलित हुआ। इस काव्य आंदोलन प्रमुख रूप से इंग्लैंड व जर्मनी से आरम्भ होकर भारत पहुँचा जहां इसे 'छायावाद' की संज्ञा दी गयी। हिंदी साहित्य में जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और महादेवी वर्मा ने इस काव्य आंदोलन को स्थापित व विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

शोधार्थी, (पीएचडी)
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

संदर्भ सूची

1. हिंदी साहित्य का निकष-डॉ. बृजेन्द्र अग्निहोत्री, पृष्ठ 142
2. हिंदी स्वच्छंदतावादी काव्य-डॉ. आशा कपूर, पृष्ठ 244
3. पाश्चात्य साहित्य चिन्तन-निर्मला जैन, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ 185
4. प्रेमचंद और उनका युग-रामविलास शर्मा, पृष्ठ 129
5. हिंदी स्वच्छंदतावादी काव्य-प्रेमशंकर, पृष्ठ 13-14
6. पाश्चात्य साहित्य चिन्तन-निर्मला जैन, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ 185
7. आलोचना के सिद्धान्त, विष्णुचन्द्र, स्वराज प्रकाशन, पृष्ठ 107
8. Literary Theory and Criticism: An Oxford Guide - Patricia Waugh, Page 53
9. अनुवाद- पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा, संपादकीय, डॉ. सावित्री सिन्हा, दिल्ली, पृष्ठ 166
10. Lessons of Romanticism, edited by thomas pfau and robert f. Gleckner, page-122
11. हिंदी स्वच्छंदतावादी काव्य-डॉ. प्रेमशंकर, पृष्ठ 32

शोध-पत्र

डॉ. पी.एल. कटारा*   पंकज कुमार डीगवाल**

बदलते भूमि उपयोग प्रारूप का शोधपरक अध्ययन
(जयपुर स्मार्ट सिटी के संदर्भ में)

सारांश-

वर्तमान भूमि उपयोग के हो रहे त्वरित परिवर्तन के द्वारा कृषि उत्पादन में उत्तरोत्तर कमी से खाद्य असंतुलन, खाद्य सकंट, भुखमरी, प्राकृतिक विपदाएँ जैसे बाढ़ व सूखा आदि समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं। भारतीय संस्कृति में यदि किसी विषय की सबसे अधिक चर्चा है तो यह भूमि उपयोग परिवर्तन और वनों में कमी की है। किसी भी देश या क्षेत्र मे भूमि उपयोग परिवर्तन एवं उनका स्तर वृद्धि एवं संरचना उस क्षेत्र या देश के आर्थिक विकास पर अत्यन्त गहरा प्रभाव डालते हैं। जनसंख्या कृषि उत्पादन और भूमि उपयोग परिवर्तन आपस में कारण तथा प्रभाव के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं अत: इनका एक साथ अध्ययन आवश्यक है तथा महत्वपूर्ण है।

मुख्य शब्द- भूमि उपयोग, आवासीय क्षेत्र, वाणिज्यिक क्षेत्र, औद्योगिक क्षेत्र, प्रशासनिक क्षेत्र, शिक्षा क्षेत्र, मिश्रित भूमि आदि।

परिचय-

भारत प्राचीनकाल से कृषि प्रधान देश रहा है। भारत में मुख्यत: भूमि उपयोग कृषि के क्षेत्र में तो होता ही है। परन्तु वर्तमान में भूमि उपयोग कृषि क्षेत्र के अलावा जल संसाधन, नव निर्माण, भूमि उपयोग जैसे अधिवास भूमि उपयोग, प्रशासनिक भूमि उपयोग, व्यापारिक भूमि उपयोग में भी इसका उपयोग किया जाने लगा है। अत: वर्तमान समय में भूमि उपयोग का स्वरूप अत्यंत व्यापक हो गया है। भारत एक विकासशील देश है तथा विकासशील अर्थव्यवस्था में भूमि उपयोग का महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान में कृषि भूमि उपयोग का राष्ट्रीय आय में योगदान लगभग 22.2 प्रतिशत है। पुराने समय में भूमि उपयोग कला तथा हस्त कौशल में विश्व का नेतृत्व करता था। घी, दूध की नदियों से सम्पन्न भारत देश सोने की चिड़िया के नाम से पुकारा जाता था। लेकिन दुर्भाग्य से ब्रिटिश शासन की दोषपूर्ण नीतियों के कारण यहाँ सब कुछ चौपट हो गया। स्वतन्त्रता के समय भारतीय कृषि भूमि उपयोग बहुत ही पिछड़ी अवस्था में था।

भारत में भूमि उपयोग के द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि तथा लागत के अनुपात में अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए भारत वर्ष में हरित क्रान्ति का उदय 1967 में हुआ। जिससे आज सरसों के उत्पादन में वृद्धि का कार्यक्रम पीली क्रान्ति के नाम से जाना जाता है। मानव भूमि को कृषि योग्य बनाता है। कम उपजाऊ को अधिक उपजाऊ बनाता है तथा एक फसली क्षेत्र को बहुफसली क्षेत्र में परिवर्तित करता है। जब भू-भाग का प्राकृतिक स्वरूप लुप्त हो जाता है और मानवीय क्रियाओं के योगदान से एक नया भूदृश्य जन्म लेता है। कृषि पारिस्थितिकी कहलाता है। अर्थात् एक निश्चित प्रयोजन व उद्देश्य से ''भूमि उपयोग'' का किसी भी रूप में उपयोग किया जा सकता है। भूमि का उपयोग भूमि की विशेषता व गुण-दोष के आधार पर विभिन्न रूप में किया जाता है, जिसके प्राकृतिक सामाजिक, आर्थिक आदि आधार हो सकते हैं। भारत में भूमि उपयोग में सर्वाधिक क्षेत्र राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, मध्यप्रदेश, पश्चिमी बंगाल में सर्वाधिक विकसित किया जा रहा है। जिसमें पंचवर्षीय योजना के माध्यम से भूमि उपयोग का विकास किया जा सकता है। स्वतन्त्रता के बाद जनसंख्या का विकास अति

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

तीव्र गति से हुआ है। जिसका सबसे अधिक प्रभाव नव–निर्माण भूमि उपयोग में सर्वाधिक कृषि भूमि, जल संसाधन वन भूमि उपयोग, प्रशासनिक भूमि, व्यापारिक भूमि, अधिवास भूमि, परिवहन भूमि उपयोग आदि के रूप में पड़ा। नगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि उपयोग में अनेक बदलाव आये जिससे देश का विकास तीव्र गति से हो रहा है। राजस्थान का कुल क्षेत्रफल 3,42,239 वर्ग किलोमीटर है। जो भारत के कुल क्षेत्रफल का 10.41 प्रतिशत है। राजस्थान में भूमि उपयोग का महत्व जनसंख्या के माध्यम से बढ़ता ही जा रहा है।

अध्ययन क्षेत्र का परिचय

जयपुर शहर भारत देश के राजस्थान राज्य का राजधानी शहर है, जो ''गुलाबी नगरी'' के नाम से जाना जाता है। जयपुर शहर का विस्तार $26^0 55'$ उत्तरी अक्षांश से $75^0 49'$ पूर्वी देशान्तर तक है। भौगोलिक दृष्टि से जयपुर शहर थार मरूस्थल की पूर्वी सीमा पर स्थित है। जयपुर शहर औसत समुद्र तल से 1417 फीट की ऊँचाई पर स्थित है। यह शहर तीन तरफ से अरावली पर्वतमाला से घिरा हुआ है। जयपुर शहर की सीमाएँ उत्तर में हरियाणा के महेन्द्रगढ़, दक्षिण में टोंक, पूर्व में अलवर, दौसा, सवाई माधोपुर तथा पश्चिम में नागौर व अजमेर जिले से स्पर्श होती हैं। शहर का पूर्व से पश्चिमी विस्तार 180 किलोमीटर तथा उत्तर से दक्षिणी विस्तार 110 किलोमीटर है। बाणगंगा और साबी दो मुख्य नदियाँ जयपुर शहर से प्रवाहित होती हैं। शहर के आसपास एकमात्र प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपुर सांभर झील है। जनगणना, 2011 के अनुसार शहर की कुल जनसंख्या 30,46,163 है, जिनमें 16,03,125 पुरुष तथा 14,43,038 स्त्रियाँ हैं। शहर में औसत साक्षरता दर 83.33 प्रतिशत है, जिनमें 76.65 प्रतिशत पुरुष तथा 89.93 प्रतिशत महिला साक्षरता दर है। शहर का औसत लिंगानुपात 900 प्रति एक हजार पुरुष है।

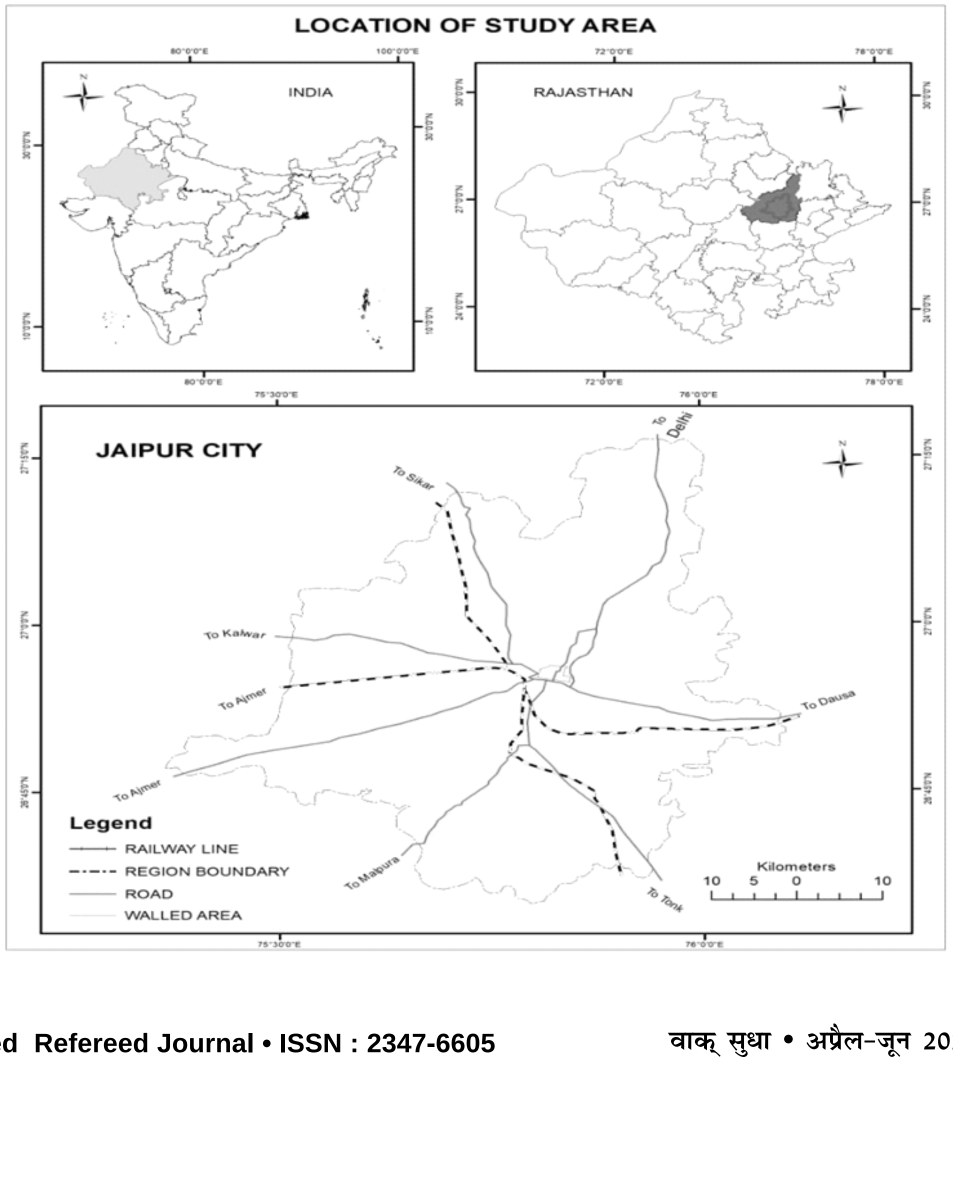

शोध उद्देश्य–

1. जयपुर शहर के नगरीय भूमि उपयोग प्रारुप का अध्ययन करना।

2. जयपुर शहर के वर्तमान भूमि उपयोग का अध्ययन करना।

3. जयपुर शहर के वर्तमान व प्रस्तावित भूमि उपयोग प्रारुप का तुलनात्मक अध्ययन करना।

शोध परिकल्पनाएँ–

1. शहर के बढ़ते हुए नगरीय विकास के साथ शहर का भूमि उपयोग निरन्तर बदल रहा है।

2. शहर के बदलते हुए भूमि उपयोग के परिणामस्वरुप शहर में अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो रही है।

विधि तंत्र एवं आंकड़ों का संकलन–

प्रस्तुत शोधपत्र द्वितीयक आंकड़ों पर आधारित है। शोधपत्र में आनुभाविक एवं मानचित्रण दो प्रकार के विश्लेषणों द्वारा अध्ययन किया गया है। शोधपत्र में प्रस्तुत द्वितीयक आंकड़े राज्य सरकार द्वारा प्रकाशित और अप्रकाशित पत्र–पत्रिकाओं द्वारा लिए गए हैं तथा शोधपत्र में आवश्यकतानुसार सारणीयन व आरेखन का उपयोग किया गया है।

साहित्यिक पुनरावलोकन–

एस. बहादूर वर्मा ने 1970 में "Jaipur Study in Urbun Land use" विषय पर शोध कार्य प्रस्तुत किया। शोध कार्य में जयपुर शहर के भूमि उपयोग प्रारूप, भूमि उपयोग पर बढ़ते जनसंख्या दबाव एवं शहर के भावी विकास हेतु सुझाव प्रस्तुत किये।

आर. पी. जोशी ने 1971 में "Kota A Study in Urban Morphology" नामक शीर्षक पर शोधकार्य प्रस्तुत किया। जिसमें उन्होंने कोटा शहर को नगरीय आकारिकी के स्वरूप एवं शहर के बदलते भूमि उपयोग का अध्ययन किया तथा शहर के भावी विकास हेतु सुझाव प्रस्तुत किया।

मनोज कुमार ने जुलाई, 2015 में ''स्मार्ट सिटी : योजना और उसके तकनीकी पहलू'' विषय पर लेख 'सांईटिफिक वर्ल्ड' नामक विज्ञान पत्रिका में प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने सूचना व संचार तकनीकी को स्मार्ट सिटी मिशन का मुख्य आधार माना।

सुरेश कुमार तिवारी ने अगस्त, 2015 में वन इंडिया डेस्क में ''क्या है भारत में स्मार्ट सिटी प्लान'' पर अपना लेख प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने बताया कि शहर के विकास के लिए किन–किन आधारभूत सुविधाओं को विकसित कर शहर का विकास किया जाए तथा शहरी लोगों के जीवन स्तर को सुधारा जाए।

शौकत अली देशवाली ने 2016 में आधुनिक अधिवास प्रवृत्ति स्मार्ट सिटी–पर्यावरणीय चुनौतियाँ और सुस्थिर विकास विषय पर Geographical Aspects नामक पत्रिका में अपना लेख प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने अजमेर शहर को स्मार्ट सिटी बनाने के लिए नागरिकों की विश्वस्तरीय सेवाओं का प्रारूप तथा शहर को स्मार्ट सिटी बनाने के उपायों का उल्लेख किया।

जयुपर शहर का भूमि उपयोग प्रारूप–

जयपुर शहर के नगरीय भूमि उपयोग प्रारूप के अलग–अलग क्षेत्रों में बांटा गया है। जिनमें रिहायशी क्षेत्र, व्यापारिक क्षेत्र, औद्योगिक क्षेत्र, प्रशासनिक क्षेत्र व शिक्षा क्षेत्र को शामिल किया गया है। इनका विस्तृत विवरण निम्नानुसार है–

रिहाइशी क्षेत्र–

जयपुर अपने वास्तविक प्लान के अनुसार नौ वार्डो (चौकड़ी) में बंटा हुआ है। यह वार्ड भी क्लास (मोहल्लों) में उपविभाजित है। भूमि के प्लाटों का वितरण जाति, उप–जाति या व्यवसाय के आधार पर किया गया था। उच्च जाति व धनी वर्ग को महाराजा के महल के निकट स्थान दिया गया, जबकि निम्न जाति व गरीब वर्ग को चारदीवारी नगर के दूरवर्ती क्षेत्रों में बसाया गया। वर्तमान समय में भी जयपुर में अनेक परिवर्तनों के बावजूद यह प्राचीन विशेषताएँ आज भी स्पष्ट दिखाई देती हैं।

पिछली कुछ सदियों में जयपुर क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए हैं। प्रारम्भ में रिहाइशी विकास पर केन्द्रोन्मुखी शक्ति का प्रभाव पड़ा। नगर चारदीवारी के अन्दर ही फैलता न बढ़ता रहा। जनसंख्या की अतिशय वृद्धि व विस्थापितों के भारी संख्या में आकर बसने के कारण यहां अनेक क्षेत्र गन्दी बस्तियों में बदल गये। नगर में अस्वास्थ्यप्रद व भीड़भाड़ से युक्त वातावरण ने धनी व उच्च मध्य वर्ग के लोगों को नगर के बाहर रहने को प्रेरित किया। इसके फलस्वरूप अनेक नयी नियोजित कॉलोनियों की स्थापना की गयी है। इनमें बनीपार्क, न्यू कॉलोनी, आदर्श नगर, तिलक नगर, बापू नगर, गांधी नगर, बजाज नगर, राजापार्क, स्कीम, जालपुरा, बस्ती, सीतारामपुर, लेबर कॉलोनी

उल्लेखनीय है। सवित लाइन्स उच्च वर्ग की रिहाइशी बस्ती है। वर्तमान में नगर अधिकांश रिहाइशी क्षेत्र पुराना चारदीवारी के बाहर फैल गया है।

वाणिज्यिक क्षेत्र

जयपुर की कई सड़कों पर व कटलों में वाणिज्यिक क्षेत्रों का जमाव मिलता है। इनको पांच उप क्षेत्रों में बांटा जा सकता है 1. जौहरी बाजार, 2. बापू बाजार और नेहरू बाजार 3. चांदपोल बाजार, त्रिपोलिया बाजार, रामगंज और चौड़ा रास्ता, 4. किशनपोल से गणगौरी बाजार, 5. घाटगेट से समाज, नगर की चहारदीवारी से बाहर प्रमुख व्यापारिक क्षेत्र मिर्जा इस्माइल मार्ग पर फैल गया है, जो कि दक्षिण दीवार के समानान्तर पूर्व में घाट गेट से होती हुई पश्चिम में रेल्वे स्टेशन तक जाती है।

मूल रूप में नगर का वर्गीकरण व विभिन्न रास्तों का नाम लोगों के व्यवसाय के अनुसार निर्धारित किया गया। विभाजन के बाद जनसंख्या की अतिशय वृद्धि ने नगर के व्यापारिक स्वरुप व भूमि उपयोग को अत्यधिक प्रभावित किया। नगर के भीतर चौड़ी सड़क पर खुदरा बिक्री की दुकानों का सघन जमाव है। जौहरी बाजार में मसाले व साग सब्जी की दुकानें हैं। चांदपोल, जो पहले अनाज का थोक बाजार था अब खुदरा बाजार के रूप में है। अब अनाज का थोक बाजार नगर की दीवार के बाहर बनी गल्ली मण्डी में स्थानान्तरित हो गया है। अधिकांश वाणिज्य संस्थान व कार्यालय प्रथम मंजिल पर स्थापित हो गया है। अधिकांश वाणिज्य संस्थान व कार्यालय प्रथम मंजिल पर स्थापित हो गये। दुकानों के सामने बने बरामदे भी अब ढक्कर दुकानों के अन्दर शामिल कर लिये गये थे। परन्तु अब इन्हें खाली कराकर क्रेताओं के आने जाने के लिए खुला रखा गया है।

औद्योगिक क्षेत्र

उद्योगों का जमाव प्रमुखतया नगर की सीमा पर प्रमुख सड़कों व रेल्वे मार्ग के समीप मिलता है। स्वतंत्रता से पूर्व यहां पर उद्योगों का विकास लगभग न के बराबर था। स्वतंत्रता के बाद यहां पर अनेक उद्योगों की स्थापना की गयी है। यह राजस्थान का प्रमुख औद्योगिक नगर बन गया है। प्रारम्भ में यहां पर केन्द्रीय रेल्वे स्टेशन के चारों ओर उद्योगों का फैलना शुरू हुआ रेल्वे मार्ग के सामीप्य ने उनको कच्चा माल तैयार माल के क्षेत्रों से जोड़ने की सुविधा प्रदान की। यहां पर इंजीनियरिंग, स्पिनिंग एवं वीविंग मिल धातु व बिजली जैसे वृहत उद्योग स्थापित हैं।

1957 के बाद दूसरा औद्योगिक क्षेत्र बाइस गोदाम जयपुर सवाई माधोपुर मार्ग पर जयपुर के दक्षिण में रेल्वे स्टेशन के निकट विकसित हो गया है। यह क्षेत्र नगर का सीमावर्ती क्षेत्र है। यहां पर लघु उद्योगों की स्थापना की गई है तथा उद्योगों का भारी विस्तार हो गया है। तीसरा औद्योगिक क्षेत्र जयपुर के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र के झोटवाड़ा स्थान में स्थापित हो गया है। यह एक त्रिभुजीय क्षेत्र है जो अजमेर व लोहारु रेल मार्ग द्वारा बनता है। यहां पर रसायन, सीमेन्ट, मोटर परिवहन के पुर्जे, इस्पात, फर्नीचर, जाली आदि उद्योग स्थापित है। जयपुर के ये सभी औद्योगिक क्षेत्र वर्तमान नगर के पश्चिम में रेल मार्ग के सहारे-सहारे फैले हैं। गांधीनगर रेल्वे स्टेशन और टोंक मार्ग के बीच औद्योगिक क्षेत्र में इंजीनियरिंग, कांच व बर्तन उद्योग फैले गये हैं। यहां पर उद्योगों का विस्तार उसके पश्चिमी भाग में अधिक हुआ है।

प्रशासनिक क्षेत्र

यह नगर न केवल राजाओं की राजधानी रहा बल्कि आज भी वर्तमान राजस्थान राज्य की राजधानी नगर है। अतः इस नगर की भूमि का प्रयोग प्रशासकीय कार्यो के लिए बराबर होता रहा है। राजाओं के समय में किलों का प्रयोग राजाओं के महल के रुप में तथा राजा के प्रशासन-सम्बन्धी कार्यो के लिये होता था। आज भी महाराजा के चन्द्रमहल के रूप में तथा राजा के प्रशासन सम्बन्धी कार्यो के लिये होता था। आज महाराजा के चन्द्रमहल में अनेक सरकारी कार्यालय काम कर रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद यहां पर सरकारी कार्यालय की स्थापना नयी-नयी सुन्दर इमारतों में की गयी है। यहाँ कार्यालय रामबाग पैलेस के निकटवर्ती सुन्दर व खुले स्थानों में स्थापित किये गये हैं। इन सबसे विकास के बावजूद नगर का प्रशासकीय क्षेत्र स्पष्ट रूप से बनता नजर नहीं आ सका अनेक कार्यालय बिखरे रूप में किराये की इमारतों में स्थापित मिलते हैं।

शिक्षा क्षेत्र

इस नगर को शिक्षा का क्षेत्र उसकी चारदीवारी की पुरानी सीमा से लेकर वर्तमान दक्षिणी सीमा के बीच फैले क्षेत्र पर लगभग पाँच किमी. की लम्बाई में फैला है। यहां पर अनेक शिक्षण संस्थान विश्वविद्यालय के अधीन काम करने वाले कई महाविद्यालय राजस्थान विश्वविद्यालय, ऑफिसर्स ट्रेनिंग स्कूल, गूँगे व बहरों का स्कूल स्थित है।

इन शिक्षा संस्थानों के अलावा यहां पर संग्रहालय, रवीन्द्र मंच थियेटर, जयपुर का सबसे बड़ा सवाई मानसिंह अस्पताल भी स्थापित है। इस अस्पताल के सामने मेडिकल कॉलेज स्थित है। उपर्युक्त संस्थानों में अधिकांश नये संस्थान हैं। पुराने नगर के भीतर स्थानाभाव होने से नये शिक्षा संस्थानों की स्थापना, बाहर नये खुले क्षेत्रों में की गयी है। इनके लिए सबसे उपर्युक्त क्षेत्र रामनिवास बाग के निकट है, जहां पर महाराजा कॉलेज की स्थापना की गयी है। यहां का शिक्षा क्षेत्र नयी रिहाइशी कॉलोनियों से घिरा हुआ है।

जयपुर शहर का वर्तमान भूमि उपयोग–

वर्ष 2011 में जयपुर शहर का कुल नगरीय विकसित क्षेत्र 76150 एकड़ है। जबकि सम्पूर्ण नगरीयकरण योग्य क्षेत्र 80665 एकड़ में है। विकसित शहरी क्षेत्र का 44.8 प्रतिशत भाग आवासीय उपयोग में है। यहां पर औद्योगिक क्षेत्र का विस्तार अधिक होने के कारण 6 प्रतिशत भूमि औद्योगिक उपयोग में काम आ रही है। जबकि वाणिज्य उपयोग में 6.7 प्रतिशत भूमि, मिश्रित भूमि क्षेत्र 3.3 प्रतिशत सरकारी एवं अर्द्ध सरकारी क्षेत्र में 2.0 प्रतिशत, सार्वजनिक एवं अर्द्धसार्वजनिक क्षेत्र में 10.5 प्रतिशत भूमि तथा 15.4 प्रतिशत भूमि रेलवे, बाईपास, सड़क, बस स्टैण्ड, ट्रक स्टैण्ड आदि परिसंचरण उपयोग में शामिल है। तथा 11.3 प्रतिशत भूमि आमोद–प्रमोद एवं मनोरंजन स्थलों के रूप में विद्यमान है।

जयपुर शहर का भूमि उपयोग प्रारूप

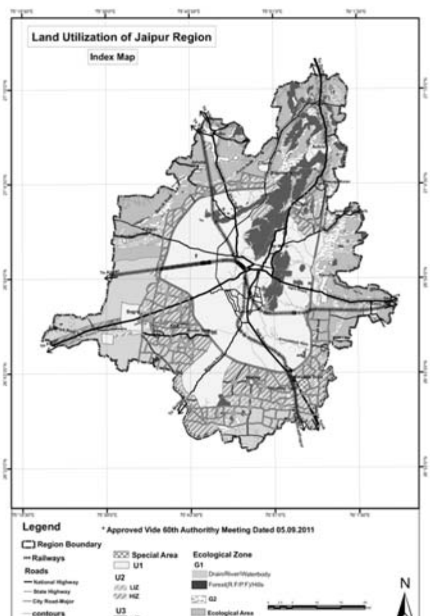

जयपुर शहर का वर्तमान भूमि उपयोग (2011)

क्र. स.	भूमि उपयोग के प्रकार	भूमि उपयोग	
		एकड़ में	प्रतिशत में
1.	आवासीय क्षेत्र	34150	44.8
2.	वाणिज्यिक क्षेत्र	5095	6.7
3.	औद्योगिक क्षेत्र	4600	6.0
4.	मिश्रित भूमि क्षेत्र	2555	3.3
5.	सरकारी एवं अर्द्ध सरकारी क्षेत्र	1485	2.0
6.	सार्वजनिक एवं अर्द्ध सार्वजनिक क्षेत्र	8005	10.5
7.	आमोद–प्रमोद क्षेत्र	8550	11.3
8.	परिसंचरण क्षेत्र	11710	15.4
	कुल विकसित क्षेत्र	76150	100

स्रोत : सर्वेक्षण निव्या अरबन स्केप, जयपुर

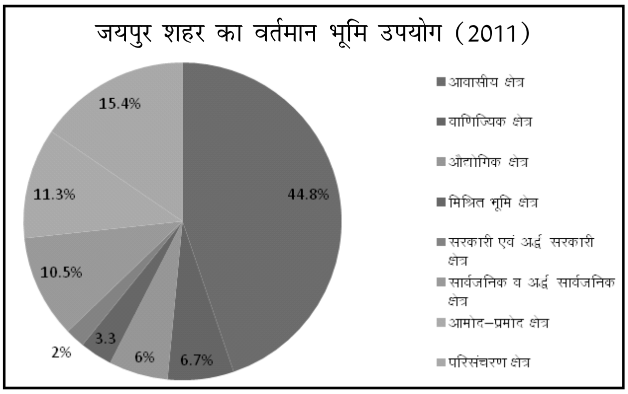

जयपुर शहर का प्रस्तावित भूमि उपयोग प्रारूप–

शहर के प्रस्तावित भूमि उपयोग में जयपुर शहर के वर्ष 2011 के भूमि उपयोग के आधार पर वर्ष 2025 के प्रस्तावित भूमि उपयोग का उल्लेख किया गया है। जिसमें शहर के प्रस्तावित आवासीय, वाणिज्यिक, औद्योगिक, मिश्रित, सरकारी एवं अर्द्ध सरकारी, सार्वजनिक एवं अर्द्ध सार्वजनिक क्षेत्र, आमोद–प्रमोद एवं परिसंचरण क्षेत्र आदि स्वरुपों का अध्ययन किया गया है।

जयपुर शहर का प्रस्तावित भूमि उपयोग (2025)

क्र. स.	भूमि उपयोग के प्रकार	भूमि उपयोग	
		एकड़ में	प्रतिशत में
1.	आवासीय क्षेत्र	113040	48.4
2.	वाणिज्यिक क्षेत्र	14100	6.9
3.	औद्योगिक क्षेत्र	23904	7.2
4.	मिश्रित भूमि क्षेत्र	3745	3.7
5.	सरकारी एवं अर्द्ध सरकारी क्षेत्र	5185	2.25
6.	सार्वजनिक एवं अर्द्ध सार्वजनिक क्षेत्र	12849	5.5
7.	आमोद-प्रमोद क्षेत्र	15565	6.7
8.	परिसंचरण क्षेत्र	24710	10.6
	कुल विकसित क्षेत्र	2,13,098	91.25
9.	अन्य- क्षेत्र (नर्सरी, वृक्षारोपण, जलाशय, खुले वन, रिक्त स्थान, पारिस्थितिकी वन, नगरीय क्षेत्र, U_3)	20434	8.75
	कुल	2,33,532	100

जयपुर क्षेत्र का प्रस्तावित भूमि उपयोग प्रारुप (2025)

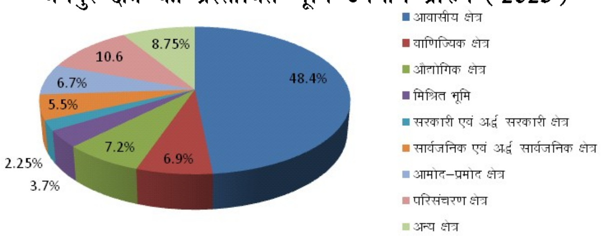

जयपुर शहर के वर्तमान व प्रस्तावित भूमि उपयोग प्रारूप का तुलनात्मक अध्ययन-

जयपुर शहर के वर्तमान भूमि उपयोग प्रारुप (2011) और प्रस्तावित भूमि उपयोग प्रारूप (2025) का तुलनात्मक अध्ययन कर सारणी में प्रदर्शित किया गया है। जिसमें जयपुर शहर के वर्तमान और प्रस्तावित आवासीय, वाणिज्यिक, सार्वजनिक व प्रशासनिक आदि स्वरुपों का तुलनात्मक रुप से अध्ययन किया गया है। जिसका विवरण निम्नानुसार है-

जयपुर शहर का तुलनात्मक भूमि उपयोग प्रारुप (2011-2025)

क्र. स.	भूमि उपयोग प्रारूप	विकसित क्षेत्र का प्रतिशत	
		2011	2025
1.	आवासीय क्षेत्र	44.8	48.4
2.	वाणिज्यिक क्षेत्र	6.7	6.9
3.	औद्योगिक क्षेत्र	6.0	7.2
4.	मिश्रित भूमि क्षेत्र	3.3	3.7
5.	सरकारी एवं अर्द्ध सरकारी क्षेत्र	2.0	2.25
6.	सार्वजनिक एवं अर्द्ध सार्वजनिक क्षेत्र	10.5.	5.5
7.	आमोद-प्रमोद क्षेत्र	11.3	6.7
8.	परिसंचरण क्षेत्र	15.4	10.6
9.	अन्य क्षेत्र	-	8.75
	कुल प्रस्तावित विकसित क्षेत्र	100	100

जयपुर क्षेत्र का तुलनात्मक भूमि उपयोग प्रारूप (2011-2025)

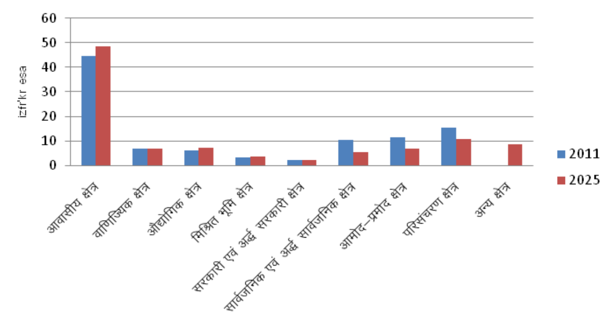

जयपुर शहर का भावी योजना क्षेत्र-

भविष्य के विकास की दृष्टि से मास्टर प्लान के कुल 2939 वर्ग किलोमीटर के इलाके को पांच क्षेत्रों में बांटा गया है। ये पांच क्षेत्र यू-1, यू-2, यू-3 पारिस्थितिकी संवेदनशील क्षेत्र व ग्रामीण क्षेत्र हैं। यू-1 में प्रस्तावित मास्टर प्लान का 800 वर्ग किलोमीटर का इलाका शामिल होगा। इसमें निर्धारित भू उपयोग के हिसाब से विकास होगा। यू-2 में सेज जैसी बड़ी परियोजनाएं आ सकेंगी। यू-3 में राष्ट्रीय राजमार्ग के दोनों तरफ एक किलोमीटर तक और राज्य राजमार्ग के दोनों तरफ आधा किलोमीटर तक के इलाके में औद्योगिक व अन्य महत्वपूर्ण कॉरिडोर विकसित किए जा सकेंगे। पारिस्थितिकी संवेदनशील क्षेत्र में अधिक निर्माण की अनुमति नहीं होगी। नदी, नाले, वन

व पुरा महत्व की इमारतों वाले इस इलाके में अधिक निर्माण की अनुमति नहीं होगी। यहां केवल रिक्रेशनल व विरासत सरक्षण से जुड़ी गतिविधियाँ की जा सकेगी। इसी तरह बायोटेक पार्क, होटल व रिसोर्ट आदि गतिविधियाँ की जा सकेंगी।

जयपुर शहर का भावी योजना क्षेत्र

यू-1	879 वर्ग किलोमीटर
यू-2	529 वर्ग किलोमीटर
यू-3	166 वर्ग किलोमीटर
परिस्थितिकी संवेदनशील की	642 वर्ग किलोमीटर
ग्रामीण क्षेत्र	723 वर्ग किलोमीटर

निष्कर्ष-

प्रस्तुत शोधपत्र में जयपुर शहर के भूमि उपयोग प्रारूप का अध्ययन किया गया है जिसमें स्मार्ट सिटी जयपुर शहर के वर्तमान व प्रस्तावित भूमि उपयोग का अध्ययन कर उनका तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है। साथ ही शहर के भावी विकास का भी अध्ययन किया गया है। अतः भविष्य में यह शोधपत्र नगर नियोजन, नगर विकास, न्यास, नगरीय आकारिकी, नगर के मास्टर प्लान व शहर के सभी भावी विकास हेतु शहर की मजबूत आधारशिला सिद्ध होगा। जो कि पूर्णतः नवीन तथ्यपरक एवं आगामी कार्यों के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

***प्रोफेसर, भूगोल विभाग**
वीरबाला कालीबाई राजकीय कन्या महाविद्यालय, डूंगरपुर (राज.) 314001
****शोधार्थी, भूगोल विभाग**
गोविंद गुरू जनजातीय विश्वविद्यालय बांसवाड़ा (राज.) 327001

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

- Bansal, S.C. 2020 Urban Geography, Meenakshi Publication, New Delhi
- Joshi, Ratan 1997 Urban Geography, Rajasthan Hindi Granth Academy, Jaipur
- Sexsena H.M. 2020 Geography of Rajasthan, Hindi Granth Akadmi, Jaipur
- VMOU Kota 2018 Nagriya Bhugol VMOU Kota Rajasthan
- Draft Master Plan for Jaipur, Vol. I & II, III and IV Published JDA, Government of Rajasthan, Jaipur (2011-2025)
- Imperial Gazetteers of Selected Cities of India, (Jaipur District)
- Master Plan, Jaipur 1991-2011
- Smart City Partivedan Report, 2011

डॉ. अनिरुद्ध कुमार

रामदरश मिश्र के उपन्यासों में आँचलिकता

उपन्यास हिन्दी कथा साहित्य की अनुपम निधि है और 'आँचलिकता' इस विद्या को समृद्ध करने वाला आधारस्तंभ। औपन्यासिक दुनिया में 'आँचलिकता' को पहचान देने वाले 'फणीश्वरनाथ रेणु' हिन्दी कथा साहित्य के सिद्धहस्त कथाकार हैं। आँचलिक परंपरा के वाहकों में एक अन्य चिर-परिचित नाम रामदरश मिश्र का है। मिश्र जी की आँचलिकता उनके अनुभव और अन्वेषण की मर्यादा नहीं बल्कि दिशा है।

आँचलिक उपन्यासों में पिछड़े हुए किसी क्षेत्र विशेष या अंचल अथवा किसी अपरिचित या अर्धपरिचित जाति या जनजाति के जीवन को पूरी सहजता एवं सरलता के साथ निरूपित किया जाता है। आँचलिकता को स्पष्ट करते हुए रामचंद्र तिवारी अपनी किताब 'हिन्दी का गद्य-साहित्य' में लिखते हैं, ''आँचलिक उपन्यास, रीजनल नावेल का समानार्थी माना जा सकता है। 'रीजनल नावेल' में किसी राष्ट्र के क्षेत्र-विशेष (अंचल) में रहने वालों के जीवन की उन विशेषताओं का अंकन किया जाता है, जो उसे निजता प्रदान करती है और जिनके कारण वह क्षेत्र अन्यों से भिन्न और विशिष्ट समझा जाता है।''[1] वस्तुत: आँचलिक उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उस अंचल या उस जाति के जीवन-जगत में गहराई से संलिप्त हो, जिसका उसे विश्लेषण करना है। आँचलिक उपन्यास अपनी संस्कृति के हर कोने से रू-ब-रू होने की प्रकृति का परिचायक है। हमारे ज्ञान का व्यापक फलक जैसे-जैसे बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे भावलोक भी आकार लेता जा रहा है। अत: देश के तमाम विकसित एवं अविकसित अंचल उपन्यास का रूप लेते जा रहा है।

हिन्दी कथा साहित्य में आँचलिक उपन्यासों की परंपरा शुरू से समृद्ध रही है। फणीश्वरनाथ रेणु इसके अग्रदूत माने जाते हैं। सन् 1954 में प्रकाशित रेणु जी का उपन्यास 'मैला आँचल' आँचलिकता का अभिनव प्रयोग है। आँचलिकता की परंपरा को समृद्ध बनाने वालों में रेणु के अलावा नागार्जुन, देवेन्द्र सत्यार्थी, उदयशंकर भट्ट, रामदरश मिश्र आदि की समृद्धशाली परंपरा रही है।

रामदरश मिश्र जी ने आँचलिकता को आधार बनाकर उपन्यास सृजन किया। 'पानी के प्राचीर' एवं 'जल टूटता हुआ' मिश्र जी के आँचलिक उपन्यासों का दृष्टांत है। 'पानी के प्राचीर' गोरखपुर जिले के 'पांडेपुरवा' गाँव को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। पानी के प्राचीरों से घिरे हुए इस गाँव की मुफलीशी का चित्र लेखक ने बड़ी बारीकी से खींचा है। उपन्यास का संघर्षशील पात्र 'नीरू' गरीबी से जूझता हुआ क्रमश: गजेन्द्र सिंह, राय साहब और सरैया मिल में नौकरी करता है। किन्तु इनका सारा जीवन संघर्ष की कहानी बयां करता है।

'पानी के प्राचीर' रामदरश मिश्र का पहला लोकप्रिय आँचलिक उपन्यास है। इसका प्रकाशन सन् 1961 ई. में हुआ। यह वह दौर था जब भारत की स्वतंत्रता को महज एक दशक ही हुआ था। भारत के सामने बहु-आयामी चुनौतियाँ विकराल रूप धारण किए खड़ी थी। गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा आदि कई समस्याएँ समाज में मौजूद थीं, इन तमाम समस्याओं का मार्मिक चित्रण उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में किया है। इन्हीं समस्याओं का एक

दृष्टांत है 'पानी के प्राचीर'। मिश्र जी इस उपन्यास में गोरखपुर जिले के 'राप्ती' और 'गोरा' नदियों के प्राचीरों से घिरेकहगर अंचल को रेखांकित करते हैं। इस उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् एक अभावग्रस्त गाँव 'पांडेपुरवा' है जिसमें भारतीय ग्राम्य समाज की गाथा प्रस्तुत की गई है।

उपन्यास में 'पांडेपुरवा' गाँव का चित्रण है, जो मुफलीशी और दरिद्रता से बेहाल है। इस गाँव के विषय में मिश्र जी लिखते हैं। '' 'पानी के प्राचीर' का कथांचल गोरखपुर जिले में राप्ती और गोरों नदियों की धाराओं से घिरा हुआ एक विशाल भू-भाग है, जो युगों से अपनी सारी हरियाली नदियों की भूखी घाटाओं जो लुटकर केवल विवशता अभाव और संघर्ष के रूप में शेष रह गया है। संस्कार के सारे सूत्रों से...।''[2] इस कथन के माध्यम से उपन्यासकार संसाधन विहीन जर्जर अवसंरचना का एक दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। विकराल नदियों के गिरफ्त में गाँव, डाकखाना, रेलवे, सड़क, बिजली, पानी का अभाव महज समस्या भर नहीं है, बल्कि पिछड़ेपन का अहम् मुद्दा भी है।

सामान्य गाँव जैसी हालात इस गाँव की भी है। अशिक्षा और गरीबी के कारण शोषण का चक्र निरंतर जारी है। इसे उद्घाटित करते हुए मिश्र जी इस उपन्यास में लिखते हैं, ''बेटा हम गरीब हैं। हमें, अपना हाथ-पांव समेटकर चलना चाहिए। बोलों-बोलों क्या हुआ?' तब तक दरवाजे पर गरजने की आवाज सुनाई दी।''[3] यहाँ गरीब दीन-हीनता, शक्तिविहीनता का प्रतीक है। समाज का शक्तिशाली या पूँजी-पति वर्ग हमेशा अपनी ताकत का प्रयोग गरीबों पर ही करता है। गरीबी एक सामाजिक मनो-दशा नहीं है, बल्कि यह एक प्रकार का व्यक्तित्व है, जिसे मनुष्य स्वयं दूर करता है। इसे दूर करने का सबसे बड़ा हथियार है 'शिक्षा'।

इस उपन्यास का कथानायक नीरू आशावादी इंसान है। वह सामाजिक परिवर्तन चाहता है। अशिक्षित लोग यह नहीं समझ पाते कि हमें क्या करना चाहिए? अशिक्षित होने के कारण ही समाज के लोग अंधविश्वासों को गले लगाते हैं। नीरू जैसा पात्र सत्य एवं सदाचार के पथ पर चलना चाहता है, परंतु मुखिया की कुटिल राजनीति उसका जीवन तहस-नहस कर देती है। उसके मन में सत्य और कल्पना का एक समायोजित चित्र है। तमाम खेत वर्चस्व और आधित्पय के कारण मुखिया के गिरफ्त में चला गया। घर का सामान कस्बा का बनिया ले गया। कर्ज की मार चौतरफा है, छुटकारे की दूर-दूर तक कोई उम्मीद नहीं दिखती। गाँव के चारों ओर असामाजिक तत्वों का तांता लगा है और मुखिया सत्ता की मलाई खा रहा है। आर्थिक हालात जर्जर होने के कारण नीरू को गजेन्द्र सिंह जैसे बड़े जमींदारों के यहाँ दो रुपये मासिक वेतन की नौकरी करनी पड़ती है। अन्याय और शोषण के विरोध की आवाज उठाता नीरू नौकरी करते-करते अपना आदर्श भूलने लगता है।

आधुनिक औद्योगिकीकरण की नींव भले ही पश्चिम में रखी गयी, लेकिन स्वतंत्रता पश्चात् भारत में भी यह तीव्र गति से फला-फूला। आज़ाद भारत में औद्योगिक विकास ने तेजी से शहरों को जन्म दिया। जब शहरों का शहरीकरण होने लगा, तब गाँव भी शहरीकरण के गर्त में चले गए। कमोवेश शहर अपने पंख उस क्षेत्र विशेष में किस गति से फैला रहा है 'पानी का प्राचीर' इसका सर्वोत्तम दृष्टांत है। मिश्र जी इस उपन्यास में जनसाधारण की व्यथा-कथा को बड़े ही मनोयोग से चित्रित करते हैं। गाँव की गरीबी कितनी विकराल है कि लोगों के बदन पर पूरा वस्त्र तक नहीं है। बाढ़, प्लेग, अकाल जैसी विकराल समस्याएँ समाज के सामने मौजूद थीं। विदेशी दासता के चंगुल से मुक्त होने वाले भारत के अधिकांश नागरिक रोटी के लिए तरस रहे थे। दरअसल रोटी, कपड़ा और मकान किसी नागरिक के लिए बुनियादी आधार है। मकान के यथास्थिति पर टिप्पणी करते हुए मिश्र जी लिखते हैं, ''नीरू अपनी माँ और पिता के साथ घर में भीगते हुए सामानों को यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ टकसाने में व्यस्त रहा। फिर भी उसके घर में एक-एक बीता पानी हो गया।''[4] आज़ादी के बाद का दूसरा दशक जब यह उपन्यास प्रकाशित हुआ, समाज में गम्भीर समस्याओं का अंबार लगा था। यहाँ मकान तो जर्जर है ही, समाज के तमाम नागरिक दो जून की रोटी के लिए भी तरस रहे थे, जिसका मिश्र जी ने इस उपन्यास में मार्मिक चित्रण किया है।

इसके बाद मिश्र जी का दूसरा उपन्यास 'जल टूटता हुआ' 1969 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की शुरुआत स्वतंत्रता दिवस की वर्षगांठ से शुरू होती है। इस उपन्यास में एक विशेष भू-भाग तिवारीपुर गाँव के माध्यम से विकसित होती गाँव की अनुभूति की कहानी बयां करती

है। इस उपन्यास के प्रतिनिधि पात्र सुग्गन तिवारी प्राइमरी स्कूल के हेडमास्टर हैं। वे कष्टमय आर्थिक हालात में जीवन यापन करते हैं। इन्हें कई महीनों से मासिक वेतन नहीं मिला है। वे आज़ादी के वर्षगांठ मनाने भी भूखे पेट आते हैं। विद्यालय का असहज कर देने वाला सजावट एवं बच्चों के चेहरे पर मायूसी हेडमास्टर साहब को स्पष्ट दिखाई पड़ती है। परिस्थितिवश इनके अरमानों का गला घोंटा जा रहा है। महीप सिंह सामंती सोच के व्यक्ति हैं। हेडमास्टर साहब को न चाहते हुए भी उनकी प्रशंसा करनी पड़ती है। उत्तर में महीप सिंह को आज़ादी का महत्व एवं आपसी सौहार्द का उपदेश सुनना पड़ता है।

यह उपन्यास आज़ादी की सालगिरह के माध्यम से उन तमाम चुनौतियों पर प्रकाश डालती है, जिसमें आज़ादी के एक दशक पश्चात् भी कोई सुधार नहीं दिखलाई पड़ता है। मिश्र जी अपने अनुभवों के आधार पर गाँव की गरीबी, पीड़ा, राजनीति पर आक्रोश व्यक्त करते हुए, आज़ादी के पश्चात् भी महीप सिंह जैसे सामंती एवं जमींदारी सोच रखने वाला व्यक्ति समाज पर अपना वर्चस्व कायम रखना चाहता है। 15 अगस्त के इस उत्सव के माध्यम से लेखक ने गाँव की गम्भीर गरीबी में व्याप्त प्रपंचकारी राजनीति का मार्मिक चित्रण किया है।

आज़ादी के एक दशक बाद भी आधारभूत संरचना के अभाव की दिशा में एक भी कदम नहीं रखा गया। इस तरफ इशारा करते हुए मिश्र जी लिखते हैं, ''तिवारीपुर के तमाम लोग मंझरिया नाले पर बांध बांधने के लिए टूट पड़े। दूर से राप्ती के झलकता हुआ सफेद-सफेद जल दिखाई पड़ रहा था। लोग एक बार इस उफनते हुए जल को देखते थे, एक बार अपनी उफनती हुई फसलों को। सतीश तिवारी ने देखा कि मास्टर सुग्गन टोपी लगाये सबसे कतराकर दक्षिण की ओर भागे जा रहे थे। उसने सुग्गन को टोका- 'क्यों मास्टर। तुम्हारे खेतों को बाढ़ नहीं पूछेगी क्या? न तुम आये और न हलवाहे को भेजा।''[5] बड़े-बड़े नदियों एवं नहरों पर पुल, बांध इत्यादि का निर्माण विकास का प्रतीक है। इन आधारभूत संरचनाओं के अभाव में किसानों की फसल बर्बाद होती है, इससे आर्थिक नुकसान के साथ-साथ पूरा आर्थिक संरचना चरमरा जाता है। गाँव के लोग अपनी फसल को किसी कीमत पर बचाए रखना चाहते हैं, अगर फसल बर्बाद हो गयी तो, दूसरी समस्या भूख की आ खड़ी होगी। यहाँ हेडमास्टर साहब और सतीश तिवारी के माध्यम से मिश्र जी ने समाज के स्वार्थी एवं मौका-परस्त लोगों पर भी करारा व्यंग्य करते हैं। हेडमास्टर साहब के न जाने से ऐसा नहीं है कि आंदोलन कमजोर पड़ जाता या कमजोर हो जाता लेकिन हेडमास्टर साहब का वहाँ न होना, सतीश तिवारी को खटकता है।

तत्कालीन समाज तमाम तरह-तरह के भेदभाव का शिकार है। जाति व्यवस्था, धर्म, लिंग आदि के आधार पर समाज कई हिस्सों में बंटा हुआ था। यह हालात आज भी हमारे सामने मौजूद है। इस भेद-भाव के कारण सामाजिक संरचना के स्वरूप में जो परिवर्तन आया है, उसके तरफ संकेत करते हुए मिश्र जी लिखते हैं, ''तिवारी तुम्हारे गाँव के लोग तो यही कहते हैं कि बदमी आवार है और कुलच्छिनी है; जहाँ गयी, नहीं पटी, या तो मतार खा गई या छोड़ भागी, मगर तुम्हारे इन बाभनों को कौन समझाए? वे भी तो मरद ही हैं न। मरद मरद ही होता है। चाहे किसी जाति का हो, और औरत की भी एक जाति है, औरत की। औरत यह दरद भोगकर भी एक-दूसरे पर हंसती हैं, बल्कि वही अधिक हंसती हैं, मुझ पर भी हंसने वाली ये औरत ही ज़्यादा है।''[6] समाज में व्याप्त स्त्री-पुरुष, जाति-व्यवस्था का मार्मिक उद्घाटन इस अंश के माध्यम से किया गया है। यहाँ लिंग के आधार पर समाज में चर्चा हो रही है। पुरुष, पुरुष से कह रहा है कि औरत की पीड़ा सिर्फ औरत ही समझ सकती है, मर्द सिर्फ अनुमान के आधार पर कह सकता है, लेकिन औरत अनुभव के आधार पर बात कहेंगी। एक जाति विशेष की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि 'बाभन का मरद', अर्थात् वर्चस्ववादी जाति, जिसके इर्द-गिर्द समाज का ताना-बाना बनता है। अतः सामाजिक संरचना में भेदभाव एक गंभीर समस्या है, जिसकी तरफ पाठकों का ध्यान लेखक आकर्षित करते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मिश्र जी ने औपन्यासिक दुनिया में भारतीय समाज में चल रहे आर्थिक शोषण की प्रवृत्तियों के साथ-साथ निर्धनता, निर्धनता से उपजी समस्याएँ भोजन, आवास, बेरोजगारी, महंगाई, महंगाई की चक्की में पिसता मानव के त्रासदीपूर्ण जीवन को रेखांकित किया है। चकबन्दी के कारण गाँव में फैली आपसी दुश्मनी जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् नए सामंतवादी व्यवस्था का जन्म हुआ, इनकी आर्थिक नीति भी साहूकारों

के ही जैसी थी। इन तमाम पक्षों का मार्मिक चित्रण अपने तमाम उपन्यासों में मिश्र जी करते हैं। ये तमाम घटनाएँ साठ और सत्तर के दशक की है, किन्तु आज भी इसमें कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आया है। आज आंचलिकता का स्वरूप एकदम से गायब होता जा रहा है। बड़ा कारण है 'पलायन'। पलायन के भी कई कारण है, गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी इत्यादि। पलायन के साथ-साथ ही आँचलिकता का स्वर कथा-साहित्य में दब-सा गया है।

असिस्टेंट प्रोफेसर
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई.मेल-anirudhk566@gmail.com

संदर्भ सूची

1. हिन्दी का गद्य-साहित्य, डॉ. रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, पोस्ट बॉक्स नम्बर-1149, विशालाक्षी भवन (भूगर्भ तल) चौक, वाराणसी-221001 (उत्तर प्रदेश, भारत)
2. पानी के प्राचीर, रामदरश मिश्र, 4695-21ए, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 110002, पृष्ठ 41
3. पानी के प्राचीर, रामदरश मिश्र, पृष्ठ 34
4. पानी के प्राचीर, रामदरश मिश्र, पृष्ठ 120
5. जल टूटता हुआ, रामदरश मिश्र, पृष्ठ 10
6. जल टूटता हुआ, रामदरश मिश्र, पृष्ठ 47

भीष्म साहनी की कहानियों में वृद्ध जीवन की समस्याएँ

कु. मोनिका

शोध सार -

21वीं सदी में दुनिया को जिन चुनौतियों और समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। उनमें प्रमुख है। संयुक्त परिवार का विघटन, संयुक्त परिवार जैसे-जैसे टूटते गए वृद्धों की स्थिति भी दयनीय होती चली गई, वे आज अपने ही बच्चों द्वारा उपेक्षित हैं, प्रताड़ित हैं। नई पीढ़ी आज स्वुच्छेंद जीवन जीना चाहती है। आज की भौतिकवादी चकाचौंध में नवयुवक उपयोगितावादी संस्कृति को अपनाने लगे हैं। अब माता-पिता की उपयोगिता घर की रखवाली तक सीमित रह गयी है। आज के समय में वृद्धों की स्थिति यह है उन्हें या तो वृद्धाश्रम भेज दिया जाता है या फिर उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है। भीष्म साहनी की कहानियों में वृद्ध जीवन की अनेक समस्याएं जैसे- विवशता, मनोव्यथा, अकेलापन, भय, पीड़ा वस्तुवादी दृष्टिकोण, नारी समस्या आदि दिखाई पड़ती है।

मूल आलेख

भीष्म साहनी स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य के प्रगतिशील परम्परा के बहुचर्चित कथाकार हैं। इनका जन्म एक साहित्यिक परिवार में हुआ। अपने लेखन के विविध रंगों से भीष्म साहनी ने सदैव हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है। नाटक, उपन्यास, कहानी, आत्मकथा और अनुवाद हर विधा में रचनात्मक प्रतिभा निखरकर सामने आती है। विविध साहित्यिक विधाओं में योगदान देने वाले भीष्म साहनी की साहित्यिक यात्रा कहानी विधा से शुरू हुई। इनके नौ कहानी संग्रह प्रकाशित हुए 'भाग्य रेखा' (1953), 'पहला पाठ' (1956), 'भटकती राख' (1966), 'पटरियाँ' (1973), 'वाङ्चू' (1978), 'शोभायात्रा' (1981), 'निशाचर' (1983), 'पाली' (1989), 'प्रतिनिधि कहानियाँ, डायन आदि इन कहानी संग्रहों में सम्मिलित सौ से अधिक कहानियाँ भीष्म साहनी की लेखन क्षमता से परिचित कराती हैं।

भीष्म साहनी मानवतावादी लेखक हैं। उन्होंने मानव को मानव के साथ जोड़ने की कोशिश की है। मानव कल्याण से युक्त इनका साहित्य है। विष्णु प्रभाकर ने भीष्म साहनी पर लिखे संस्मरण में उनके रचनाकर्म पर टिप्पणी करते हुए लिखा है। ''इनका रचना संसार आम-आदमी का रचना संसार है, महानायकों का नहीं है। इनकी रचनाएँ सच्चाई का दस्तावेज वह वक्त की चेतना को सहज प्रवक्ता है।''[1]

एक कहानीकार के रूप में भीष्म साहनी का जन्म उनकी परिस्थितियों एवं प्रतिभा दोनों का मिला-जुला रूप है। उन्होंने जो कुछ देखा व अनुभव किया उसी को अपनी कहानियों में उकेरा है। ''भीष्म साहनी ने सदैव यथार्थ को अपनी कहानियों का विषय बनाया। यथार्थवादी लेखन के कारण ही नामवर सिंह जैसे आलोचक ने उन्हें प्रेमचंद की परम्परा का लेखक कह डाला।''[2]

भीष्म साहनी ने वृद्धों को केन्द्र में रखकर कहानी लिखी है। 'यादें' उनकी एक ऐसी कहानी है जिसमें दो वृद्धाओं का जीवन चक्र का चित्रण करते हुए यह दिखलाते हैं कि आज वृद्धों के जीवन में कितना अंधेरा है। यह कहानी वृद्धों की यादें, उपेक्षा और वृद्धावस्था में उनकी दोस्ती की कथा का वर्णन है। इसमें वृद्धों की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति उजागर हुई है। यह प्रसंग दृष्टव्य है ''नहीं बच्चा अब बहुत देर हो गयी है अंधेरे से मैं बहुत डरती हूँ और घुटनों से हाथों दबाये, हाय! रामजी कहकर

उठ खड़ी हुई मैं तीन बार हड्डियाँ तुड़वा चुकी हूँ, बच्चा! एक दिन सड़क पर जा रही थी पीछे से किसी साईकिलवाले ने आकर टक्कर मार दी, मैं औंधे मुँह जा गिरी। भला हो लोगों का जो उन्होंने मुझे खाट पर डालकर घर पहुँचा दिया?''[3] इस कथन के पीछे छिपे वृद्धों के अंतर्मन की व्यथा को समझा जा सकता है। एक भरे-पूरे परिवार की वृद्ध औरत नितांत अकेले अपने सभी कार्य पूरा करती है। स्पष्ट है कि उसकी जिंदगी का अंधेरे को दूर करने वाला उसे कोई नहीं दिखता।

इसलिए वृद्ध लोग रात को अपना दुश्मन मानते हैं। कहानी में प्रसंग दृष्टव्य है। ''रामलाल की ओर हाथ बढ़ा कर बोली रात पड़ गयी है बच्चा मैं रात से बहुत डरती हूँ, रात बुढ़ों की दुश्मन होती है।''[4] इस कहानी में वृद्धों के हर स्तर पर उन्होंने प्रकाश डाला है।

वृद्ध जीवन में एकाकीपन एक बड़ी समस्या है। भीष्म साहनी की कहानी 'कुछ और साल' में अवकाश प्राप्त सुपरिटेंडेट मधुसूदन के बुढ़ापे का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं- ''मधुसूदन की पत्नी बरसों पहले मर चुकी है। दोनों बेटियों के ब्याह हो चुके हैं, एक नागपुर में रहती है, दूसरी कलकत्ता में। बड़ा बेटा वकील है इसी शहर में रहता है। कभी-कभी पत्नी की घुड़कियों के बावजूद बाप से मिलने आ जाता है।''[5] स्पष्ट है कि जिन लोगों के लिए जवानी के दिनों में लोग सम्पत्ति इकट्ठा करते हैं, वे तथाकथित अपने भी अपने वृद्धों की सुध लेने को तैयार नहीं दिखते। एक शहर में रहते हुए पिता और पुत्र एक साथ नहीं रहते इस द्वंद्व को समझना जरूरी है। इस कहानी में वृद्धों के अकेलेपन को देखा जा सकता है।

'खून का रिश्ता', कहानी में वृद्ध जीवन की आर्थिक समस्या को देखा जा सकता है। आपसी रिश्तों के बीच पूंजीवादी व्यंवस्था ने जिस ढंग से दरार डाली है। इस कहानी में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है, बेकसूर वृद्ध चाचा पर चोरी का इल्जाम लगाकर उसकी इज्जत तार-तार करना यह दिखलाता है, कि आज के इस वस्तुवादी युग में पैसे के सिवा अपना सगा कोई नहीं है। वे लिखते हैं-''मंगलसेन गिरा भी अजीब ढंग से। धम्मो से जमीन पर जो पड़ा तो उकडूं हो गया और पगड़ी उतरकर गले में आ गयी। मनोरमा अपनी हँसी रोके न रोक सकी।''[6] ये पंक्ति आज के संवेदनहीन समाज की पराकाष्ठा दिखलाती है। सगे चाचा का गश खाकर गिरना और सगी भतीजी का उसे देखकर हँसना कितना विद्रूप चित्रण है यह वही समझ सकता है, जिसने पीड़ा को महसूस किया हो। आज की इस सामाजिक त्रासदी से पूरा समुदाय पीड़ित है। 'खून का रिश्ता' कहानी में मध्यमवर्गीय परिवार के आंतरिक संबंधों की कलई खोलती है। यह पूंजीवाद से प्रभावित समाज की उसी रग को पकड़ती है। जहाँ खून के संबंध भी पैसे की ताकत के आधार पर तौले जाते हैं।

भीष्म साहनी की कालजयी कहानी, 'चीफ की दावत' एक मानवीय संकट के साथ शुरू होती है और धीरे-धीरे एक विडम्बना में परिणत हो जाती है। माँ के प्रति मिस्टर शामनाथ का जो वस्तुवादी दृष्टिकोण है वह आज के समाज की घृणित सच्चाई बयाँ करता है। वृद्ध माँ अपने पुत्र के लिए एक समस्या बन चुकी है। शामनाथ समस्या का समाधान करते हुए कहते हैं-''और माँ हम लोग पहले बैठक में बैठेंगे। उतनी देर तुम यहाँ बरामदे में बैठना। फिर जब हम यहाँ आ जायें, तो तुम गुसलखाने के रास्ते बैठक में चली जाना।''[7] जो माँ चीफ के आने से पहले तक समस्या थी वह तब जरूरी बन जाती है जब चीफ को उसकी बनाई फुलकारी पसंद आ जाती है। माँ की पीड़ा इन पंक्तियों में दिखती है, ''नहीं बेटा, अब तुम अपनी बहू के साथ जैसे मनचाहे रहो मैंने अपना खा-पहन लिया। अब यहाँ क्या करूँगी। जो थोड़े दिन जिन्दगानी के बाकी, भगवान का नाम लूँगी तुम मुझे हरिद्वार भेज दो!''[8]

वृद्ध जीवन की समस्या समाज का महज एक पक्ष है। इसी तरह और भी कई समस्याओं का सामना मानव जीवन में करना पड़ता है। जिनके मूल कारण वर्तमान पीढ़ी के लोगों में नैतिक मूल्यों का अभाव होना है यह केवल एक परिवार या देश तक सीमित नहीं है बल्कि पूरे विश्व की समस्या है। इस सत्य को पहचानकर कहानीकार स्वयं लिखते हैं-''मुझे ऐसी कहानियाँ पसंद हैं, जिनमें अधिक व्यापक स्वर पर सार्थकता पाई जाए। व्यापक सार्थकता से मेरा मतलब है कि अगर उनमें से कोई सत्य झलकता है, तो वह सत्य मात्र किसी व्यक्ति का निजी सत्य ही न रहकर बड़े पैमाने पर पूरे समाज जीवन का सत्य बनकर सामने आये, जहाँ वह अधिक व्यापक सन्दर्भ ग्रहण कर पाये, किसी एक की कहानी न रहकर पूरे समाज की कहानी बन जाये जहाँ वह हमारी समसामयिक किसी महत्वपूर्ण पहलू को उजागर करती हुई अपने परिवेश में सार्थकता ग्रहण कर ले।

उनके इस कथन के सन्दर्भ में कहानी में उठायी गई वृद्ध जीवन की समस्या बिल्कुल हमारे समसामयिक तथा आज के समाज के महत्वपूर्ण पक्ष को उकेरती है जो कि पूरे विश्व की समस्या भी है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि भीष्म साहनी ने अपने बहुआयामी प्रतिभा को विविध रूप से रूपायित किया है। वृद्ध जीवन की संवेदनाओं को अपनी कहानियों में कई साहित्यकारों ने उकेरा है परन्तु भीष्म साहनी ने प्रखरता और प्रभावकारी ढंग से वृद्धों की दयनीय अवस्था का चित्रण किया है। निःसंदेह 'चीफ की दावत' कहानी हिंदी में ही नहीं बल्कि समग्र भारतीय भाषाओं के साहित्य में शीर्ष स्थान पाने की हकदार है। आज के समय में वृद्धों की स्थिति पहले की तुलना में और खराब हुई है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल – monikakasana88@gmail.com

संदर्भ सूची

1. भीष्म साहनी : एक विरल व्यक्तित्व, विष्णु प्रभाकर, पृष्ठ 5, अकार, अंक 12 नवम्बर 2004
2. भीष्म साहनी की कहानियाँ – सृजन और सन्दर्भ, पूजा तिवारी, 'अपनी माटी', सोमवार मार्च 4, 2004
3. साहनी भीष्म, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल पेपर बैक्स, पन्द्रहवां संस्करण, पृष्ठ 48
4. वही, पृष्ठ 50
5. वही, पृष्ठ 59
6. वही, पृष्ठ 35
7. वही, पृष्ठ 16
8. वही, पृष्ठ 22
9. भीष्म साहनी, मेरी प्रिय कहानियाँ, राजपाल प्रकाशन, संस्करण, 2017, पृष्ठ 7

प्रणय प्रकाश

'बिना दरवाजे का मकान में' प्रवासी मजदूरों के समस्याओं की पड़ताल

शोध सार

रामदरश मिश्र आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख रचनाकार हैं। उन्होंने समाज में व्याप्त कई समस्याओं को केंद्र में रखकर रचनाएँ की हैं। उन्हें आंचलिक उपन्यासकार के तौर पर याद किया जाता है परंतु उनका लेखन अन्य संदर्भों को लेकर भी गहनता से हुआ है। प्रवासियों के समस्याओं को आधार बनाकर उन्होंने 'बिना दरवाजे का मकान' नामक उपन्यास की रचना की। उनके इस रचना में एक निम्नवर्गीय प्रवासी दम्पत्ति के माध्यम से अपना घर-बार और समाज छोड़कर शहर आए प्रवासियों को होनेवाली समस्याओं और उनके आसपास रह रहे समाज का सूक्ष्म चित्रण किया है। इस आलेख के माध्यम से हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि रोजगार की तलाश में गाँव से पलायन होकर शहर में आये प्रवासियों की क्या-क्या समस्याएँ हैं, जिसका वर्णन इस उपन्यास में किया गया है।

मूल शब्द

उपन्यास, प्रवासी, पलायन, शहर, रोजगार, स्त्री, कामगार, विडंबना

शोध आलेख

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश में कई प्रकार के महत्वपूर्ण राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। भारत के सामने आर्थिक समस्या का स्वरूप अत्यंत विकराल था। कई प्रकार की सामाजिक विसंगतियाँ भी थीं। इन सबको ध्यान में रखकर तत्कालीन सरकार ने सुधार के लिए प्रत्येक क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रयास प्रारंभ किया। अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त हुई जनता को रोजगार की सख्त आवश्यकता थी। कृषि से उनका भरण-पोषण नहीं हो पा रहा था। तत्कालीन सरकार द्वारा उन सबके कल्याण के लिए 'पंचवर्षीय योजना' के माध्यम से कृषि के सुदृढ़ीकरण के साथ-साथ उद्योग-धंधों में बढ़ावा तथा नवीन शहरों के निर्माण पर बल दिया गया। गोपा सभरवाल कहती हैं कि-''संसद औद्योगिक नीति संबंधी एक प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है, जिसमें औद्योगिक विकास के क्षेत्र में सरकारी नीति के व्यापक उद्देश्य बताए गए थे तथा सरकारी और निजी क्षेत्रों की भूमिका तय की गई थीं।''[1] यह प्रक्रिया सतत रूप से कई दशकों तक जारी रही और आज भी जारी है। नए निर्माण कार्य हुए शहरों में काम के लिए मजदूरों की आवश्यकता थी तथा गाँव में रोजगार की कमी एवं बेगारी की समस्या होने के कारण एक बड़ी जनसंख्या का पलायन शहरों की ओर हुआ। इन्हें ही प्रवासी कामगार या प्रवासी मजदूर के नाम से जाना जाता है। जब वे सब शहर में काम की खोज में आए तो उन्हें काम के साथ-साथ कई समस्याओं का भी सामना करना पड़ा।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज में या अपने आसपास घटित हो रही घटनाओं से साहित्य अछूता नहीं रह पाता है। वह अपने आसपास हो रही गतिविधियों को रेखांकित करता है तथा उसका सूक्ष्म विश्लेषण करता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है कि- ''प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है।''[2] पलायन की घटना को तथा उससे पड़ने वाले प्रभाव एवं समस्याओं को भी हिंदी साहित्य के विभिन्न विधाओं में बारीकी से चित्रित किया गया है। इस घटना को आधार बनाकर कई हिन्दी उपन्यास भी लिखे गए,

जिसमें रामदरश मिश्र कृत 'बिना दरवाजे का मकान' महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में उन्होंने कामगार प्रवासियों की समस्याओं का सूक्ष्मता के साथ चित्रण किया गया है।

इस उपन्यास का मुख्य पात्र 'दीपा' और 'बहादुर' प्रवासी मजदूर रहते हैं जो रोजगार की तलाश में अपने गाँव से शहर में पलायन कर चुके होते हैं। एक परिभाषा के अनुसार–''पलायन एक स्थान से दूसरे स्थान तक लोगों की आवाजाही है। यह एक छोटी या लंबी दूरी के लिए अल्पकालिक या स्थायी, स्वैच्छिक या मजबूरीवश, अन्तर्देशीय या अंतर्राष्ट्रीय हो सकता है।''[3] दीपा और बहादुर भी मजबूरीवश शहर की ओर पलायन करते हैं। गाँव में एक तो रोजगार की समस्या होती है, ऊपर से बहादुर के घरवाले भी खरी-खोटी सुनाते हैं। दीपा नई-नई बहू बनकर बहादुर के घर आती है और उसे सास का ताना सुनने को मिलता है। उसे याद करते हुए दीपा कहती है कि–''बहादुर अपने बाप के साथ खेतों में काम करता–कभी अपने खेतों में, कभी दूसरे खेतों में और इधर सास और ननद दिन-भर मुझसे काम लेतीं और कोसतीं। मैं मशीन की तरह काम करती, सास की सेवा करती और फिर भी गालियाँ सुनती। मैं सोचती कि कहाँ आकर फँस गई हूँ।''[4] बेरोजगारी की मार, बेगारी की समस्या और पारिवारिक कलह के कारण दीपा और बहादुर मिलकर एक दिन तय करते हैं और शहर की ओर निकल पड़ते हैं। शहर आकर बहादुर रिक्शा चलाने लगता है और दीपा घर संभालने लगती है। दोनों मिलकर खुशी-खुशी रहते हैं और बिना किसी समस्या के अपना जीवन-यापन करते हैं। तभी एक दर्द-विदारक घटना घटती है। बहादुर के रिक्शे का एक कार से एक्सीडेंट हो जाता है और उस घटना में बहादुर को बहुत चोट आती है। दीपा बसंत (बहादुर का दोस्त) की मदद से बहादुर को अस्पताल ले जाती है। वहाँ जाने पर पता चलता है कि बहादुर के रीढ़ की हड्डी की गुरिया में काफी चोट आयी है और अब वह चल फिर सकने में भी असमर्थ है। गलती कारवाले की होती है परंतु इतना सब होने के बाद भी पुलिसवाला दीपा को ही भला-बुरा कहता है और बहादुर की ही गलती बताता है। पुलिसवाला वहाँ सबसे पूछता है कि किसकी गलती है? पर कोई कुछ नहीं बोलता है। यह सब देखकर बसंत को गुस्सा आ जाता है और वह भड़ककर कहता है कि–''कौन बोलेगा? किसकी शामत आई है जो बोले। भाभी, भैया को उठाओ और अस्पताल ले चलो। इस बहस में क्या रखा है कि दोस किसका है। गरीबों की जान की कीमत ही कितनी होती है!''[5] एक मजदूर के जीवन की यही विडंबना है कि बात उसके जान पर बन आई है और गलती किसी और के होने पर भी गरीब होने के कारण उसपर ही अत्याचार किया जा रहा है।

बहादुर के शारीरिक अक्षमता के बाद घर का सारा भार दीपा के कंधों पर आ जाता है। अब उसके जीवन के अत्यंत कठिन समय का प्रारंभ होता है। गाँव के एक भोली-भाली लड़की को अब घर-घर जाकर काम करना पड़ता है और सही से काम करने के बाद भी उसे खरी-खोटी सुनना पड़ता है। शुरू में तो वह इन सभी चीजों से अभ्यस्त नहीं रहती है, पर धीरे-धीरे वह इन सभी चीजों की आदी हो जाती है। वह पहले झूठ नहीं बोलती थी पर अपने जीवन में आए अनुभव से अब झूठ बोलना भी उसके लिए सामान्य हो गया है- ''झूठ-हाँ, झूठ न बोले तो कोई आसानी से छोड़ेगा? पहले वह झूठ नहीं बोलती थी और उसे धीरे-धीरे लगने लगा कि झूठ बोले बिना जिंदगी नहीं चल सकती। सच बोलकर तो आदमी तेली के बैल की तरह जुता रहे और एक ही घेरे में सुबह से शाम तक जुआ कंधे पर डाले चक्कर लगाता रहे, कुछ होने-जाने का नहीं।''[6] शहर आकर उसे शहर के असलियत का पता चलता है कि यहाँ काम तो मिल जाता है, पर यहाँ के लोगों का वश चले तो उससे दिनभर मशीन की तरह काम ही लेता रहे। शहरी लोगों का कामगार मजदूरों के प्रति घोर अमानवीयता भरे व्यवहार का पता इस कथन से स्पष्ट तौर पर लगाया जा सकता है।

कामगार जब शहर में आते हैं तो उसके साथ एक बड़ी समस्या आवास को लेकर होती है। पहले तो उसे रहने के लिए कोई घर नहीं देता है और अगर दे भी दे तो किराया अधिक होता है। दीपा के साथ भी यही समस्या होती है। वह धीरे-धीरे काम करके और थोड़ा बचत करके एक छोटा जमीन का टुकड़ा खरीद लेती है। परंतु वह जमीन का टुकड़ा शहर से दूर होता है। शहर में सस्ती जमीन तो नहीं मिल सकती है इसलिए उसे मजबूरीवश यहीं जमीन लेना पड़ता है। अब समस्या यह है कि जमीन सस्ती और शहर से दूर होने के कारण शहर के लोग अपना सारा कूड़ा-कचड़ा यहीं लाकर डालते हैं, यहाँ तक

मलमूत्र भी। दीपा चाहकर भी कुछ नहीं कर सकती है। दीपा कहती है– ''किसे–किसे मना करे? कहा कौन मानता है? और नहीं तो जमादारनी भी मोहल्ले–भर का पाखाना यहीं फेंक जाती है। अब इसे भी सहने की आदत पड़ती जा रही है। गरीब आदमी को सहने की आदत डालनी ही होती है। इतनी सस्ती जमीन उसे यहीं मिल सकती थी, जनकपुरी में नहीं। सस्ती जमीन के चारों ओर यह सब लगा ही रहेगा।''[7] दीपा और बहादुर ने एक अच्छे जीवन की तलाश में अपना घर छोड़कर शहर आते हैं, परंतु यहाँ उसे रोजगार तो मिल जाता है पर अच्छे जीवन की संकल्पना अभी भी उससे कोसों दूर है। अपने आसपास के लोगों की जिंदगी को देखकर उसे अब यह सब सहने की आदत पड़ती जा रही है। दीपा देखती है कि उसके आसपास ऐसे कई मजदूर हैं जो सड़कों के किनारे या झुग्गी बनाकर रहते हैं, उन सबका जीवन तो हमसे भी खराब स्थिति में है। अपना अच्छा–खासा घरबार छोड़कर काम की तलाश में शहर आए मजदूरों के जीवन की यही विडंबना है कि न चाहते हुए भी 'सहनशीलता' उसके जीवन का हिस्सा बन जाता है और धीरे–धीरे अपनी यथास्थिति को वह स्वीकार कर लेते हैं तथा दुर्दशापूर्ण जीवन जीने को ही अपना नियति मान लेते हैं।

दीपा और बहादुर शादी से पहले एक बार अकस्मात किसी कारणवश मिले थे। शादी तो घरवालों के तरफ से तय करके हुई थी परंतु दीपा के मन पर बहादुर के बहादुरी का गहरा छाप था। दोनों एक–दूसरे से अथाह प्रेम करते थे। दीपा पूरी तरह से अपने आप को बहादुर को सौंप दी थी तथा बहादुर भी उस पर जान लुटाता था। दोनों जवान और स्वस्थ थे और एक–दूसरे को पसंद भी करते थे, इसलिए दोनों को एक–दूसरे से असीम मानसिक एवं शारीरिक सुख की प्राप्ति होती थी। परंतु जब से बहादुर अस्वस्थ हुआ है, दोनों के बीच सबकुछ पहले जैसा नहीं रहा। दीपा दिनभर काम करके थकी–हारी घर लौटती है और घर आने पर बहादुर बीमार मिलता है। इस बात की खबर आसपास के लोगों को भी होती है और बहादुर के दोस्तों को भी। सभी जानने वाले लोग उसकी तरफ गिद्ध दृष्टि बनाए रखते हैं। एक जवान महिला जिसका पति अक्षम हो, उसे अन्य पुरुषों ऐसे देखते हैं जैसे वह उसके लिए भोग की वस्तु हो। बहादुर का दोस्त बलदेव भी उस पर नजरें गड़ाया रहता है और एक दिन मौका पाकर दीपा को कहता है कि– भउजी, आजकल तुम बहुत सजधजकर चक्कर मारने लगी हो। तब दीपा उससे पूछती है कि– किसने कहा तुमसे? तो वह कहता है कि– ''अरे बहुत से लोग कहते हैं। अरे मैं कहता हूँ कि बहादुर मेरा पुराना दोस्त है। दोस्त का काम आना दोस्त का फर्ज है। तुम्हें किसी तरह की जरूरत हो तो मेरे यहाँ चली आया करो– रात–बिरात, दिन–दोपहर, तुम्हारे लिए हमेसा मेरा दरवाजा खुला रहेगा। ... चलो, आगे चलो।''[8] और यह कहकर उसे अँधेरे में मैदान की ओर खींचकर जबरदस्ती ले जाने लगता है। वह किसी तरह से बच–बचाकर, भागकर अपना जान बचाती है। पति का अक्षम होना और उसका गरीब होना उसके लिए किसी श्राप से कम नहीं है। उसकी आबरू अपने घर आनेवाले लोगों से लेकर काम करनेवाले जगह में भी सुरक्षित नहीं है। हर जगह उसे भोग की वस्तु के रूप में देखा जाता है। अगर वह मजदूर नहीं होती तो कोई भी आदमी बेधड़क होकर उससे यह बात नहीं कह पाता। हालांकि यह समस्या हर वर्ग की कामकाजी महिलाओं के साथ है। इस समस्या पर दृष्टिपात करते हुए रोहिणी अग्रवाल कहती हैं कि– ''अधीनस्थ महिला कर्मचारी को एक शरीर समझकर उसका मनमाने ढंग से उपयोग करना आज भी पुरुष अधिकारी अपना अधिकार समझता है।''[9] और दीपा के साथ दोहरी विडंबना है कि एक तो वह महिला है और ऊपर से गरीब मजदूर।

दीपा और बहादुर अपने घर से निकले तो थे अच्छे जीवन की तलाश में, परंतु न जाने कितने समस्याओं से घिर गए हैं। शहर आकर रोजगार तो मिल गया परंतु उसे अच्छा जीवन नहीं मिल पाया। दोनों अपने जीवन को खुशहाल बनाने के लिए हर जगह संघर्ष कर रहे होते हैं। बहादुर की अक्षमता के बाद तो यह संघर्ष और यातनापूर्ण से भर जाता है। दोनों परेशान हो जाते हैं। एक दिन परेशान होकर बहादुर दीपा से कहता है कि–''हाँ, लगता है कि हमलोग लड़ने के लिए ही पैदा हुए हैं। मैं बीमारी से लड़ रहा हूँ और तूम गरीबी से लड़ रही हो। लड़ तो तुम्हीं रही हो, मैं तो निकम्मा लेटा हुआ तमासा देख रहा हूँ। मैं मरद हूँ, मेरा नाम बहादुर है, लेकिन लगता है तुम्हीं मरद हो। लगता है मेरी परवरिस करने के लिए तुम्हीं ने मेरी बाँह पकड़ी है। यह सब देखा नहीं जाता, दीपा! इससे तो अच्छा था कि मैं मर जाता।''[10] इस कथन से पता चलता है कि दोनों के जीवन में कितना दुख, त्रासदी और संत्रास

है। दोनों किसी तरह अपने जीवन को खींच रहे होते हैं। दोनों चाहकर भी सबकुछ ठीक नहीं कर पाते हैं। परंतु इतना सब होने के बाद भी दीपा में जीवन को लेकर आशा है। वह हाड़-तोड़ मेहनत करती है। वह हार मानने वालों में से नहीं है। उसे कई चीजों से लेकर शिकायत है परंतु वह लड़ना जानती है और उससे लड़ती भी है। इस उपन्यास को लेकर डॉ. रामचंद्र तिवारी कहते हैं कि- "बिना दरवाजे के मकान में 'दीपा' जैसी कर्मठ नारी का जीवन-संघर्ष और अनेक दबाव के बीच उसकी अपराजेय जिजीविषा का प्रभावी एवं मार्मिक चित्रण किया गया है।"[11] इस रचना को पढ़कर यह सहज ही प्रतीत होता है।

निष्कर्ष

रामदरश मिश्र आधुनिक हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य रचनाकार हैं। उन्हें साहित्य के क्षेत्र में कई सम्मानों से नवाजा गया है। वह वर्तमान समय में भी साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय हैं। ग्रामीण पृष्ठभूमि से आने के कारण उनकी रचनाओं में गाँव और गाँव से जुड़े लोगों को लेकर अत्यंत संवेदनशीलता दिखाई पड़ती है। उनकी रचनाओं में एक अंचल में बस रहे लोगों से लेकर गाँव से पलायन कर गए लोगों के दुख-दर्द एवं समस्याओं की गहरी अभिव्यक्ति मिलती है। वे किसी एक अंचल या किसी एक व्यक्ति के समस्याओं को लेकर लिखते हैं, परंतु उसे पढ़कर यह भान होता है कि न जाने ऐसे कितने अंचल या लोग इन समस्याओं से जूझ रहे होंगे। 'बिना दरवाजे का मकान' का अध्ययन करने पर हमें यह प्रतीत होता है कि आज भी न जाने कितने 'बहादुर' और 'दीपा' हमारे आसपास हैं, जो अपनी समस्याओं के साथ जीने को मजबूर हैं।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल - pranayduhindi@gmail.com

संदर्भ सूची

1. सभरवाल, गोपा, 1947 के बाद का भारत, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2019, पृष्ठ 31
2. शुक्ल, रामचंद्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, वैभव लक्ष्मी प्रकाशन, वाराणसी, संशोधित सं. 1940, पृष्ठ 21
3. वेबसाईट, https://www.drishtiias.com/hindi/daily-news-analysis/what-the-2011-census-data-on-migration-tells-us
4. मिश्र, रामदरश, बिना दरवाजे का मकान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा सं. 2020, पृष्ठ 28
5. वही, पृष्ठ 61
6. वही, पृष्ठ 10
7. वही, पृष्ठ 35
8. वही, पृष्ठ 119
9. अग्रवाल, रोहिणी, हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला, दिनमान प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 1997, पृष्ठ 204
10. मिश्र, रामदरश, बिना दरवाजे का मकान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा सं. 2020, पृष्ठ 23
11. तिवारी, रामचंद्र, हिन्दी का गद्य-साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चौदहवाँ सं. 2022, पृष्ठ 272

भारतीय राजनीति में छात्रों द्वारा चलाए गए बिहार आंदोलन में लोकनायक जयप्रकाश नारायण की भूमिका

प्रियंका

सार

बिहार आंदोलन (पटना विश्वविद्यालय) के छात्रों द्वारा चलाया गया मुख्य तौर पर इस आंदोलन की शुरुआत 19 मार्च 1974 से माना गया क्योंकि लोकनायक जयप्रकाश नारायण द्वारा इस आंदोलन का नेतृत्व स्वीकार किया गया।

कॉलेज प्रशासन द्वारा छात्रों के दमन, राज्य सरकार द्वारा किये जा रहे पुलिस प्रशासन के दुरुपयोग, भ्रष्टाचार, अशिक्षा, महंगाई, बेरोज़गारी, अलोकतांत्रिक गतिविधियों के विरुद्ध बिहार के छात्रों द्वारा किये गए आंदोलन को अब लोकनायक के नेतृत्व से एक नई पहचान मिली। अब यह आंदोलन केवल बिहार और उसके कुछ जिलों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि सम्पूर्ण भारत में लोकनायक के नेतृत्व से इस आंदोलन का प्रसार हुआ।

अत: छात्रों पर हो रहे प्रशासन द्वारा अलोकतांत्रिक तरीकों के प्रयोग, को अब लोकनायक के नेतृत्व द्वारा सरकार का विरोध किया गया।

इस लेख में लोकनायक की भूमिका और उनके नेतृत्व का वर्णन किया गया है और प्रशासन द्वारा किये जा रहे अमानवीय तरीकों का प्रयोग, लोगों के अधिकारों व छात्रों के आवाज़ दबाये जाने के खिलाफ उन्होंने सरकार का प्रत्यक्ष तौर पर विरोध किया और आंदोलन को एक नई दिशा प्रदान की और लोकतंत्र के बचाव हेतु व एक अग्रणी नेता के तौर पर आगे आए और इस आंदोलन की सहायता से राष्ट्र व छात्रों को एक नयी राह पर (स्वतंत्रता/लोकतंत्र) की राह पर ले जाने का सफल प्रयास किया।

जीवन परिचय

लोकनायक जयप्रकाश नारायण का जन्म (11 अक्टूबर 1902) गांव सिताब-दियारा, सारन जिला (बिहार) में हुआ। लोकनायक की प्रारम्भिक शिक्षा उनके गांव में आरंभ हुई परन्तु गांव में कोई स्कूल न होने के कारण उनके 7 वर्ष की आयु में पटना आना पड़ा और इन्होंने यहाँ Collegiate स्कूल में दाखिला लिया। अपनी शिक्षा के लिए उसके बाद उन्होंने पटना कॉलेज में दाखिला लिया।

पटना कॉलेज लोकनायक के जीवन का वह दौर रहा जहाँ जलियांवाला बाग काण्ड, रॉल्ट एक्ट, खिलाफत आंदोलन और सत्याग्रह आंदोलनों ने उन पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। अब लोकनायक भावनात्मक तौर पर ब्रिटिश शासन के खिलाफ हो गए थे।

लोकनायक गोपाल कृष्ण गोखले, महात्मा गांधी और मौलाना आजाद से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी शिक्षा को ब्रिटिश शिक्षा मानते हुए उसका त्याग करना चाहा और विदेशी कपड़ों का त्याग कर स्वदेशी को अपनाया।

लोकनायक अपनी उच्चतम शिक्षा के लिए अमेरिका गए जहाँ उन्होंने लगभग 7 वर्ष व्यतीत किए और 5 विश्वविद्यालयों में शिक्षा ग्रहण की। यह दौर उनके जीवन का कठिन दौर था क्योंकि अमेरिका में आर्थिक तौर पर वह समस्या का सामना कर रहे थे और उन्होंने वहाँ फल बटोरने, उनको अलग-अलग रखने, होटलों में बाथरूम साफ करने का कार्य भी किया।

लोकनायक ने USA में अपनी शिक्षा पूरी की और वह Ph.D भी करना चाहते थे परन्तु उनकी माता का स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण उन्हें भारत लौटना पड़ा।

USA में लोकनायक का झुकाव मार्क्सवाद की तरफ

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

गया और 1924 में लेनिन की मृत्यु के बाद उसी वर्ष माना जाता है कि लोकनायक मार्क्सवादी बन गए और मॉस्को, रूस जाने के लिए वह धन एकत्रित करने लगे।

लोकनायक का विवाह ब्रिज किशोर प्रसाद की पुत्री प्रभावती से अमेरिका जाने से पहले करवा दिया गया। ब्रिज किशोर प्रसाद व उनकी पुत्री महात्मा गांधी के बहुत करीबी थे। प्रभावती लोकनायक के USA जाने के बाद वह महात्मा गांधी के आश्रम सावरमती आश्रम में ही रही। USA से लौटने के बाद लोकनायक स्वतन्त्रता संग्राम आंदोलन में भाग लिया और कांग्रेस में शामिल हो गए।

लोकनायक महात्मा गांधी और विनोबा भावे के सत्याग्रह और भूदान के विचारों से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने समाजवादी विचारधारा को लाने का प्रयास किया।

लोकनायक की कांग्रेस में महत्वपूर्ण भूमिका रही और उन्होंने नेहरू के साथ मिलकर बहुत से कार्यों को पूरा किया और कांग्रेस समाजवाद पार्टी का गठन किया। लोकनायक को कई बार जेल भी जाना पड़ा और 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन में उनकी सक्रिय भूमिका रही है और भारत की आजादी के बाद उन्होंने राजनीति से संन्यास ले लिया।

लोकनायक ने स्वतंत्रता आंदोलन में एक स्वतंत्रता सेनानी के रूप में सक्रिय भूमिका अदा की।

लोकनायक जयप्रकाश नारायण को एक स्वतंत्रता सेनानी के रूप में, एक समाजवादी मार्क्सवाद के अनुयायी के रूप में और सर्वोदया आंदोलन में एक सक्रिय नेता के रूप में उन्हें पहचान मिल चुकी थी। भारत की आजादी के बाद लोकनायक ने स्वयं को राजनीति से दूर कर लिया और विनोबा भावे के सर्वोदया के अंतर्गत भूदान में भाग लेने लगे।

अभी तक लोकनायक जयप्रकाश नारायण को एक स्वतंत्रता सेनानी के रूप में जाना गया लेकिन लोकनायक पद जो उनके नाम के साथ जोड़ा गया वो 1960 के दशक में एक ऐसी घटना जिससे राजनीति से संन्यास ले चुके लोकनायक को फिर से राजनीति में आना पड़ा और लोकतंत्र के बचाव हेतु उनको फिर याद किया गया।

लोकनायक जयप्रकाश नारायण को लोकनायक बनाने की परिकथा सन् 1974 में बिहार आंदोलन से आरंभ हुई।

1974 बिहार आंदोलन

"Give me one year to build a new country"

(जयप्रकाश नारायण)

मार्च 1974 में बिहार के छात्रों ने लोकहित में कुछ मुद्दों को लेकर एक आंदोलन आरंभ किया और इस आंदोलन को वास्तविक गति जब प्राप्त हुई जब आंदोलन लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में आ गया और देखते ही देखते यह आंदोलन पूरे भारत में फैल गया जिसे जयप्रकाश नारायण आंदोलन के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

हालांकि जयप्रकाश नारायण वापस राजनीति में नहीं आना चाहते थे जब 1968 में शेख अब्दुल्लाह ने पटना में आकर उन्हें कहा कि भारत को बचाने के लिए आपको वापस राजनीति में आना चाहिए तो उन्होंने उत्तर दिया कि वो वापस राजनीति में नहीं आना चाहते वो लोगों के बीच रहकर कार्य करना चाहते हैं।

1960 के दौर में लोकनायक ने यह महसूस किया कि कांग्रेस पार्टी जनता के हितों के लिए कार्य नहीं कर रही हैं और 1967 के चुनावों से पहले उन्होंने यह बयान (Public Statement) दिया कि अगर कांग्रेस कुछ राज्यों में चुनाव हारती है तो यह लोकतंत्र के हित में होगा क्योंकि कांग्रेस पार्टी को एक उपचार की आवश्यकता है।

1967 में पहली बार बिहार के छात्रों ने चुनाव प्रचार में बड़ी मात्रा में भाग लिया और कांग्रेस के विरुद्ध प्रचार किया और इसका यह परिणाम निकला कि कांग्रेस 128/328 सीटें ही हासिल कर पाई और विपक्षी पार्टियों को 178 सीटों पर विजय मिली और इतिहास में पहली बार बिहार में गैर-कांग्रेस की सरकार महामाया प्रसाद सिन्हा की अध्यक्षता में सरकार बनी और 1967-70 के दौरान बिहार में कुछ गठबंधन सरकारों का दौर देखने को मिला। सन् 1972 में बिहार में कांग्रेस की सरकार बहुमत के साथ सत्ता में वापस आई और इस दौरान केदार पाण्डे मुख्यमंत्री बने परन्तु 1973 में वो बहुमत साबित करने में असफल रहे।

1970 के दशक में बिहार में महँगाई और भ्रष्टाचार ने लोगों को कुचल कर रख दिया। लोकनायक ने इसके लिए सरकार और भ्रष्ट प्रशासन को इसका जिम्मेदार माना।

लोकनायक 1968 में छात्र क्रान्ति (France) से बहुत प्रभावित थे। अत: लोकनायक ने सभी छात्रों को गांधी के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया और इन युवा छात्रों के राजनीति अधिकारों की मांग की।

हालांकि छात्र आंदोलनों को 1950 के बाद दुनिया भर

में अलग-अलग जगह देखा गया उदाहरण के तौर पर 1958 वेनेजुएला, 1960 में कोरिया व टर्की, 1964 में सुडान और 1966 में इण्डोनेशिया में छात्र आंदोलनों को देखा गया।

भारत भी इस तरह के आंदोलन से ज्यादा दूर नहीं रह सका और 1960 के दौर में भारत में भी इन छात्र आंदोलनों की शुरुआत बिहार व गुजरात से हुई।

लोकनायक ने भारत के गिरते हुए लोकतंत्र के आधार को युवाओं/छात्राओं की शक्ति की सहायता से बचाने का प्रयास किया।

उत्तर प्रदेश (1973) में चुनाव होने वाले थे। लोकनायक ने लोकतंत्र के बचाव हेतु यह बयान दिया कि लोकतंत्र केवल कांग्रेस के हाथों में ही सीमित है। राज्य में आंतरिक लोकतंत्र नाम की कोई चीज नहीं रही है क्योंकि लोकतंत्र अब तानाशाही सरकार के हाथों में कैद है और इसका उदाहरण गोलकनाथ व केशवा नन्द भारती केस में अदालत द्वारा दिए गए निर्णय से यह और स्पष्ट हो गया कि संसद को संविधान से ज्यादा शक्ति प्राप्त है और जिस प्रकार सम्पत्ति के अधिकार पर सरकार द्वारा हस्तक्षेप किया गया यह लोकनायक के लिए एक चिन्ता का विषय बना कि क्या संसद लोगों के स्वतंत्रता व व्यक्तिगत अधिकार भी सीमित कर देगी।

लोकनायक न्यायाधीशों की नियुक्ति जो उस दौरान हुई उससे भी चिंतित थे। अत: उन्होंने 16 मई 1973 को प्रेस (मीडिया) में अपने बयान के माध्यम से अपना असंतोष जाहिर किया कि संसद को यह अधिकार नहीं है कि वो लोगों के मौलिक अधिकारों का दमन या उसे सीमित करे और भारत के लोकतंत्र को बर्बाद करें। लोकनायक ने अपने बयान की एक कॉपी को श्रीमती इन्दिरा गांधी को भी भेजी और न्यायाधीशों की नियुक्ति प्रक्रिया पर असंतोष प्रकट किया और चुनावों में लगने वाली तय राशि से कई अधिक मात्रा में पार्टी द्वारा पैसा लगाया जाता है। इसके लिए भी लोकनायक गंभीर थे क्योंकि उनका मानना था कि यह अलोकतांत्रिक तौर पर लगाया जाने वाला पैसा भ्रष्टाचार की जनक है और राजनीति में पैसा अमीर लोग लगाएंगे और गरीब कभी भी राजनीति का अंग/हिस्सा नहीं बन पाएगा।

जनवरी 1974 में गुजरात से लोकनायक को निमंत्रण प्राप्त हुआ वहाँ के छात्र राज्य में बढ़ती भूखमरी/गरीबी और खाद्यान्नों की सुरक्षा और राज्य सरकार के भ्रष्टाचार के विरुद्ध आंदोलन चलाए हुए थे, बढ़ती महंगाई और भ्रष्टाचार के विरुद्ध सर्वोदया आंदोलन के नेताओं ने लोकनायक से दिल्ली आकर मुलाकात की और उन्हें आंदोलन में शामिल होने के लिए कहा और लोकनायक ने सावरमती आश्रम से इस आंदोलन में शामिल होकर गुजरात को एक नयी आकार प्रदान करने हेतु कदम उठाते हुए आंदोलन में शामिल हुए।

गुजरात से बदलाव की मांग की गई और बदलाव के दौर की शुरुआत हुई। लोकनायक का स्वास्थ्य ठीक नहीं था इसलिए उन्होंने छात्रों से आग्रह किया कि वे अपनी शिक्षा को एक साल छोड़कर उनका साथ दे ताकि भारत में एक नये लोकतांत्रिक ढाँचे का निर्माण हो सके।

युवाओं द्वारा गुजरात आंदोलन को नव-निर्माण आंदोलन का नाम दिया गया और लोकनायक द्वारा चुनाव प्रक्रिया में सुधार की माँग की गई और गरीब परिवार के लोगों को ग्राम चुनावों में भाग लेने के लिए कहा। हालांकि यह आंदोलन इतना व्यापक रूप नहीं ले सका लेकिन आजाद भारत में यह पहला ऐसा आंदोलन बना जिससे राज्य सरकार पर इतना दबाव डाला कि उसे सत्ता छोड़नी पड़ी और यह कथन सत्य साबित हुआ कि लोगों की शक्ति राज्य की शक्ति से ज्यादा महत्वपूर्ण है।

बिहार में हालात ज्यादा आक्रामक होने लगे। छात्रों ने बिहार परिवहन के 2 बसों पर कब्जा/अगवा कर लिया इसमें बिहार विश्वविद्यालय के छात्र और कुछ अधिकारियों ने अपनी माँगों को सरकार के सामने रखने के लिए ऐसा किया।

पुलिस प्रशासन द्वारा भीड़ को खत्म करने के लिए 17 राउंड गोलियाँ चलाई गई। बिहार में बढ़ते भ्रष्टाचार और महँगाई, बेरोजगारी, शिक्षा और विश्वविद्यालय में लोकतंत्र के गिरते स्तर के लिए इस आंदोलन को किया गया। 1973 में पटना विश्वविद्यालय में लालू प्रसाद यादव व सुशील कुमार मोदी ने विद्यार्थी परिषद् के चुनाव में भाग लिया और जीत हासिल किया।

लोकनायक ने पटना विश्वविद्यालय छात्र संगठन के आरंभ समारोह में भाग दिया और इस भाषण से प्रेरित होकर छात्रों ने आंदोलन की शुरुआत करने का निर्णय लिया। अत: 70 कॉलेजों के 250 प्रतिनिधियों ने मिलकर कॉलेज प्रशासन (पटना विश्वविद्यालय) के आगे अपनी

माँगों को रखा।

इस आंदोलन को 18 मार्च को एक ऐतिहासिक दृश्य देखने को मिला। 400-500 छात्रों ने पटना विश्वविद्यालय से एक रैली निकाली। देखते ही देखते इस रैली में 4000-5000 छात्र शामिल हो गए जो बिहार के अलग-अलग जगहों से आकर यहाँ एकत्रित हुए थे। इनका उद्देश्य बिहार विधानसभा का घेराव करके अपनी माँगों को उनके समक्ष रखना था। इस प्रदर्शन में पुलिस प्रशासन ने इसके विरुद्ध कार्यवाही की।

लोकनायक को इस आंदोलन में नेतृत्व करने के लिए कहा गया पहले उन्होंने हाँ बोल दिया फिर उन्होंने केवल समर्थन की बात मानते हुए कहा कि वो केवल समर्थन करेंगे क्योंकि अब बीमार रहते हैं।

हिंसा बिहार के 5 और जिलों में फैली हुई थी और कर्फ्यू लगाया गया था। लालू प्रसाद यादव, सुशील कुमार मोदी, रवि शंकर प्रसाद को गिरफ्तार कर लिया गया।

लोकनायक ने बिहार बन्द और लोगों पर लगाए गए प्रतिबंध का विरोध किया और छात्रों पर किए गए बल प्रयोग, लाठीचार्ज, गोलीबारी को सामाजिकता के विरुद्ध बताया और कहा कि सरकार को पहले भ्रष्ट नेताओं और प्रशासन पर जोर देना चाहिए और उसके बाद छात्रों से बात-विचार के माध्यम से इसका समाधान करना चाहिए।

लोकनायक राज्य सरकार के इस बर्ताव से असंतुष्ट थे। लोकनायक ने पटना की घटना पर बयान देते हुए कहा कि भ्रष्टाचार को बिहार या देश के किसी भी जगह में मौन अवस्था में खड़े होकर चुपचाप नहीं देख सकता।

लोकनायक ने गांधी मैदान से भाषण देते हुए कांग्रेस के भ्रष्टाचार के विरुद्ध, सरकारी पदों के दुरुपयोग और भ्रष्ट नेताओं के विरुद्ध प्रशासन को कार्यवाही करके प्रशासन को स्वस्थ करने की सलाह दी और छात्रों पर बल प्रयोग को गलत बताया।

छात्र-संगठन समिति द्वारा बिहार में जगह-जगह शान्तिपूर्ण तरीकों से भुख-हड़ताल आदि से आंदोलनों को आरंभ किया।

लोकनायक ने कहा कि यह शान्तिपूर्ण आंदोलन की शुरुआत है और सभी को सत्याग्रही की तरह इस आंदोलन में शामिल होना चाहिए। हमारा उद्देश्य एक सरकार को हटाकर दूसरी सरकार को लाना नहीं है बल्कि हमें इस बीमारी की जड़ तक पहुँचना है।

लोकनायक ने अभी तक आंदोलन का नेतृत्व को स्वीकार नहीं किया था। घटनाओं का दौर जारी था। दबाव के कारण बिहार राज्य सरकार ने सभी नेताओं ने मुख्यमंत्री सहित इस्तीफा देने को तैयार हो गए। अब आंदोलन बिहार से निकल पूरे भारत में फैल गया। अब छात्र-संगठन समिति ने इंदिरा गांधी के इस्तीफे की मांग आरंभ कर दीं। 19 मार्च 1974 लोकनायक ने आंदोलन के नेतृत्व को स्वीकार किया। अब तक 15 विशाल रैली व प्रदर्शनों का आयोजन अलग-अलग जिलों में किया गया।

पुलिस प्रशासन द्वारा लोगों पर किए गए बल-प्रयोग को लोकनायक ने पुलिस प्रशासन को गैर-मानवनीय करार दिया।

आंदोलन का नेतृत्व स्वीकार करने के लिए लोकनायक ने दो शर्तें रखीं। पहला आंदोलन शान्तिपूर्ण तरीके से होना चाहिए। दूसरा सभी को मेरा नेतृत्व स्वीकार करना होगा। लोकनायक के नेतृत्व से आंदोलन में भाग ले रहे लोगों ने भ्रष्टाचार और प्रशासन के खिलाफ स्वयं कार्यवाही आरंभ कर दी। अनेक कार्यवाहियों को अंजाम देते हुए भ्रष्ट प्रशासन की पोल खोलकर रख दी। लोगों ने स्वयं को इस कार्यवाही का भाग माना और छात्रों ने इस आंदोलन को आगे बढ़ाते हुए हस्ताक्षर अभियान चलाया और लगभग 38 हजार अध्यापक, कर्मचारी और गैर-सरकारी विद्यालय 24 अप्रैल को हड़ताल पर चले गए और आंदोलन का विचार देश-भर में हुआ और इस आंदोलन के कई नेताओं को गिरफ्तार करते हुए बहुत बड़े व मुख्य नेताओं को जेल के अंदर भेज दिया गया।

बिहार आंदोलन में राज्य सरकार के साथ केन्द्र सरकार के खिलाफ भी लोगों को अपना आक्रोश दिखाया और बिहार आंदोलन जो आरंभ में बिहार व उसके कुछ जिलों तक सीमित था अब जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में आंदोलन को देश-भर में फैलाया गया। बिहार में राज्य सरकार व पुलिस प्रशासन द्वारा लोगों पर किए जाने वाले अमानवीय कार्यवाही, लोगों पर बल प्रयोग और छात्र व नेताओं की गिरफ्तारियों के बाद लोकनायक ने इसके विरोध में सम्पूर्ण क्रान्ति की (Total Revolution) की घोषणा कर दी।

सम्पूर्ण क्रान्ति की घोषणा (Call for Total Revolution)

5 जून 1974 वह ऐतिहासिक दिन है जब लोकनायक

के नेतृत्व में एक रैली जो विधानसभा को भंग करने के उद्देश्य से एक ट्रंक जिसमें लोगों द्वारा हस्ताक्षर किए गए दस्तावेज और उस ट्रंक के पीछे आंदोलन में शामिल लोग राज्यपाल के पास जा रहे थे लेकिन इस 7 कि.मी. की रैली को बीच में ही रोक लिया गया और कार्यवाही की गई और लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया। अत: लोकनायक ने गांधी मैदान में देर शाम तक सम्पूर्ण-क्रान्ति की घोषणा कर दी और भुखमरी, भ्रष्टाचार, महंगाई, बेरोजगारी, तानाशाही जैसी समस्याओं के विरुद्ध सम्पूर्ण क्रान्ति की घोषणा की।

पुलिस ने लोगों और छात्रों को गिरफ्तार करना आरंभ कर दिया। लोकनायक ने 60 के दशक में बिहार आंदोलन में जिस प्रकार उसमें शामिल, उस आंदोलन का नेतृत्व कर बिहार आंदोलन को केवल बिहार तक ही सीमित नहीं रहने दिया बल्कि उसका फैलाव लोकनायक के नेतृत्व में पूरे भारत में हुआ और तानाशाही, भ्रष्टाचार, महंगाई, अशिक्षा व बेरोजगारी जैसी समस्याओं से बिहार आंदोलन ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण क्रान्ति का रूप धारण कर लिया।

निष्कर्ष

लोकनायक जयप्रकाश नारायण एक ऐसा व्यक्तित्व जिन्हें महात्मा गांधी के बाद दूसरा ऐसा व्यक्ति माना गया जिन्होंने भारतीय राजनीति में अहम् भूमिका अदा की। महात्मा गांधी जिन्हें भारत की आजादी का नायक माना गया वहीं लोकनायक को भारतीय लोकतंत्र के बचाव का नायक माना गया। अगर हम इतिहास पर नजर डालें तो पाएंगे कि महात्मा गांधी के बाद लोकनायक दूसरे व्यक्ति थे जिन्होंने इतने व्यापक रूप से लोगों को आंदोलन का भाग बनाया।

अपने खराब स्वास्थ्य के बावजूद भी उन्होंने गुजरात व बिहार आंदोलनों में अहम् भूमिका अदा की और अपने समाजवादी विचारधारा और सर्वोदया के विचारों से प्रेरित लोकनायक ने सम्पूर्ण भारत को उसे अपनाने का आग्रह किया।

बिहार व गुजरात में छात्रों द्वारा आरंभ आंदोलन थे और उसके लोकनायक द्वारा नेतृत्व में इस आंदोलन को व्यापक रूप प्रदान किया और जो समस्याएँ सरकारी तंत्रों के दुरुपयोग, तानाशाही के बढ़ते कदम, भ्रष्टाचार, महंगाई, भूखमरी, तानाशाही के खिलाफ आरंभ आंदोलन ने देखते ही देखते सम्पूर्ण-क्रान्ति (Total Revolution) का रूप धारण कर लिया।

लोकनायक ने 60 के दशक राजनीति में एक नेता के रूप में नहीं एक कार्यकर्ता के रूप में भाग लिया और सरकार के द्वारा अमानवीय गतिविधियाँ जो लोगों की स्वतंत्रता का दमन कर रही थी उसका उन्होंने विरोध किया और उनके नेतृत्व से सरकार के भ्रष्टाचार व सरकारी तंत्रों के दुरुपयोग का खुलासा आरंभ हुआ। राज्य व केन्द्र सरकार दोनों पर इन आंदोलनों का इतना गंभीर प्रभाव पड़ा कि सरकार ने लोकनायक और उनके आंदोलनों को कमजोर करने की भरपूर कोशिश की गई।

बिहार व गुजरात आंदोलनों से जो शुरुआत आरंभ हुई उससे सरकार इतनी गंभीर हो गई थी। इलाहाबाद हाई कोर्ट के निर्णय के बाद इंदिरा गांधी ने 25 जून 1975 की रात आंतरिक समस्याओं का हवाला देते हुए आपातकाल की घोषणा कर दी।

लोकनायक कभी किसी राजनीति का समर्थन नहीं करते थे वो समस्याओं की जड़ तक जाने व उसको सुधारने का प्रयास करते थे।

छात्र-आंदोलनों ने उनकी भूमिका जो एक कर्ता और नेतृत्व के रूप में आरंभ हुई वो सम्पूर्ण क्रान्ति और आपातकाल के बाद जनता पार्टी के विजय और कांग्रेस की पराजय और भारत में 1977 ने पहली बार गैर-कांग्रेस सरकार की स्थापना के साथ लोकनायक का राजनीति में दूसरी पारी की समाप्ति हुई और 8 अक्टूबर 1979 सुबह 4:25 बीमारी के कारण इस करिश्माई व्यक्ति वाले इस लोकनायक की मृत्यु के साथ इस दुनिया से उनकी विदाई हुई।

पीएचडी शोधार्थी
राजनीतिक विज्ञान एवं लोक प्रशासन विभाग
वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर (राजस्थान)

संदर्भ ग्रंथ सूची

- Jay Prakash Narayan (Prophet of Peoples Power) by Sudhanshu Ranjan.
- J.P. Movement (Emergency and Indians Second by Freedom) M.G. Devasahayam.

शोध-पत्र

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित विविध योग और उनके साम्प्रतिक सन्दर्भ

डा. कल्पना आर्या

शोधसार

श्रीमद्भगवद्गीता एक सम्पूर्ण योगशास्त्र है। जिसका उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अर्जुन को प्रदान किया था। गीता में कहे गए योग के विविध पक्षों का साम्प्रतिक मानवीय जीवन में महत्त्व का विवेचन प्रस्तुत अनुसन्धान पत्र में किया जा रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए उपदेश में यहां मुख्य रूप से ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग का विवेचन प्रस्तुत है। गीता में ज्ञानयोग की ''ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति'' एवं ''ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते'' इत्यादि विशेषताओं का उल्लेख हुआ है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अज्ञानान्धकार से सन्तप्त मानव हेतु ज्ञान की महत्ता और भी ज्यादा बढ़ गई है। श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश देते हुए कहते हैं कि, हे अर्जुन, अपने भीतर रहकर, आसक्ति का त्याग करके अपने कर्म करो। गीता में 'तस्माद्योगी भवार्जुन' के उपदेश में ''योगस्थ: कुरु कर्माणि'' ''योग: कर्मसु कौशलम्'' एवं 'कर्मयोगेण योगिनाम्' इत्यादि के अर्थ के समान कर्मयोग ही उल्लेख हुआ है। भक्तियोग ईश्वर प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। संसार की समस्त पहचान का विस्मरण और अन्तहीन प्रेम की प्राप्ति का प्रतिक्षण अनुभव करना ही वास्तव में भक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीता में भक्तियोग को मुक्ति अर्थात् अन्तिम सत्य के अनुभव करने का मार्ग कहा गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो हर्ष-द्वेष-चिन्ता-आशा-शुभाशुभ का परित्याग करता है, वह भक्तिपरायण मनुष्य मुझे सर्वप्रिय है। समत्व योग की यह भावना वर्तमान सन्दर्भ में भी अपनी उपादेयता बनाए हुए है। व्यक्ति को न तो इनके संयोग में अत्यधिक प्रफुल्लित होना चाहिए और न ही वियोग में शोक ही करना चाहिए। समत्व की यह भावना मनुष्य के जीवन में भी सन्तुलन स्थापित करती है। गीताज्ञान, कर्म और भक्ति योग के संदर्भ में विशेष रूप से समृद्ध हैं। वर्तमान सन्दर्भ में इसके समुचित विमर्श से गीता को नए सिरे से पढ़ने से नई अंतर्दृष्टि प्राप्त होगी। जिससे मानव मात्र के जीवन की अनेक समस्याओं के समुचित समाधान का मार्ग प्रशस्त होगा।

शोध लेख

योग शब्द का रूढ़ार्थ 'प्राणायाम आदि साधनों से चित्त-वृत्तियों या इन्द्रियों का निरोध करना', अथवा 'पातञ्जलसूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग' है। उपनिषदों में भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि यह संकुचित अर्थ भगवद्गीता में विवक्षित नहीं है। 'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है जिसका अर्थ 'जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्र-अवस्थिति' इत्यादि होता है और ऐसी स्थिति की प्राप्ति के 'उपाय, साधन, युक्ति या कर्म' को भी योग कहते हैं। यही अर्थ अमरकोष में इस तरह से दिए हुए हैं- ''योग: संहननोपाय-ध्यानसंगतियुक्तिषु।''[2]

गीता में योग, योगी अथवा योग शब्द से बने हुए सामासिक शब्द लगभग अस्सी बार प्रयुक्त हुए हैं; परन्तु चार-पाँच स्थानों के सिवाय योग शब्द से 'पातंजल योग' अर्थ कहीं भी अभिप्रेत नहीं है। सिर्फ 'युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, जोड़, मेल' यही अर्थ कुछ परिवर्तन से सारी गीता में पाए जाते हैं; अतएव हम कह सकते हैं कि गीता शास्त्र के व्यापक शब्दों में 'योग' भी एक शब्द है।

ध्यातव्य है कि गीता में योग के किसी एक पक्ष का ही वर्णन नहीं किया गया है, अपितु यह एक सम्पूर्ण योगशास्त्र है। जिसका उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अर्जुन को प्रदान किया था। सहस्राब्दि से भी प्राचीन यह ज्ञान कैसे वर्तमान में भी अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए है एवं गीता में कहे गए योग के विविध पक्षों का साम्प्रतिक मानवीय जीवन में क्या महत्त्व है? प्रस्तुत अनुसन्धान पत्र में इसका विवेचन किया जा रहा है।

यदि किसी मनुष्य को किसी शास्त्र को जानने की इच्छा न हो तो वह उस शास्त्र के ज्ञान को पाने का अधिकारी नहीं हो सकता। ऐसे अधिकार रहित मनुष्य को उस शास्त्र की शिक्षा देना दुष्कर कार्य है। ऐसा होने पर शिष्य को तो उस शिक्षा से कुछ लाभ होता ही नहीं; परन्तु गुरु को भी निरर्थक श्रम करके समय नष्ट करना पड़ता है। जैमिनि और बादरायण के आरंभ में इसी कारण से अथातो धर्मजिज्ञासा[3] और अथातो ब्रह्मजिज्ञासा[4] का निर्देश दिया है। इसी प्रकार कर्मशास्त्रोपदेश उसी मनुष्य को देना चाहिए जिसे यह जानने की जिज्ञासा हो कि संसार में कर्म कैसे करना चाहिए। यदि शिष्य के मन में जिज्ञासा न हो तो पहले उसी को जागृत करने का प्रयत्न करना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में योगशास्त्र का विवेचन इसी पद्धति से किया गया है। जब अर्जुन के मन में यह शंका आई कि इस युद्ध में शामिल होना उचित है या अनुचित; और जब वह युद्ध से पराङ्मुख होकर संन्यास लेने को तैयार हुआ। तब भगवान ने उसको भक्ति, कर्म और ज्ञान का उपदेश दिया। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग के उपदेश का विवेचन निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत है।

1. ज्ञानयोग

श्रीमद्भगवतगीता के अनुसार मनुष्य के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर ईश्वर का साक्षात्कार करना ज्ञानयोग है। यह ज्ञान क्षेत्र अर्थात् शरीर एवं क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा को तत्त्व से जानने की योग्यता है। जगत् के समस्त पदार्थों से अनासक्ति तथा परमात्मा में समाहित हो जाने का भावबोध तत्त्वज्ञान कहलाता है, इसे ही ज्ञान कहते हैं। त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् में ज्ञानयोग का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि चित्त का सदैव श्रेय के अर्थ में बद्ध होना ज्ञानयोग कहलाता है। जो कि समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाला होता है –

यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम्।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः॥[5]

श्रीमद्भगवतगीता के तेरहवें अध्याय में ज्ञान प्राप्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अध्यात्मज्ञान में नित्यस्थिति तथा तत्त्वज्ञान के रूप में परमेश्वर के दर्शन के ज्ञानमात्र को ही वास्तविक ज्ञान कहा गया है, और इससे भिन्न को अज्ञान कहा गया है –

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥[6]

गीता में अनेक स्थलों पर ज्ञानयोग की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। जैसे –''श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः''[7], ''सर्वज्ञानप्लवेनैव''[8], ''ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति''[9], ''ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते''।[10]

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ज्ञानयोग की महत्ता आज और भी ज्यादा बढ़ गई है। आज के भौतिकवादी युग में मनुष्य निरन्तर जगत् के भौतिक पदार्थ और उनसे मिलने वाले तात्कालिक सुख की प्राप्ति में अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है। आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में वह दु:खमय जीवन जीने हेतु मजबूर है। हालांकि जीवन के इस रणक्षेत्र में उसके पास श्रीकृष्ण सा कोई उपदेशक ना हो, तथापि साक्षात् श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट ज्ञान की प्राप्ति हेतु स्वयं प्रयत्न तो कर ही सकता है।

2. कर्मयोग

'कर्म' शब्द 'कृ' धातु से बना है, उसका अर्थ 'करना, व्यापार, हलचल' होता है और इसी सामान्य अर्थ में गीता में उसका उपयोग हुआ है, अर्थात् यही अर्थ गीता में विवक्षित है। प्राचीन वैदिक धर्म के अनुसार देखा जाए तो यज्ञ–याग ही वह कर्म है जिससे ईश्वर की प्राप्ति होती है। परन्तु गीता में 'कर्म' शब्द को उससे भी अधिक व्यापक रूप में लेना चाहिए। जब स्वयं भगवान ने योग शब्द की निश्चित और स्वतंत्र व्याख्या गीता में कर दी है कि 'योगः कर्मसु कौशलम्'[11] अर्थात् कर्म करने की एक प्रकार की विशेष युक्ति को योग कहते हैं; तो इस शब्द के मुख्य अर्थ के विषय में कुछ भी शंका नहीं रहनी चाहिए।

गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को योग के अनुसार युद्ध

करने की उपपत्ति बतलाते हैं[12], कि जो लोग हमेशा यज्ञ-यागादि काम्यकर्मों में ही निमग्न रहते हैं, उनकी बुद्धिफल की आशा से कैसी व्यग्र हो जाती है।[13] इसके पश्चात् उन्होंने यह उपदेश दिया है कि 'बुद्धि को अव्यग्र स्थिर या शान्त रखकर आसक्ति को छोड़ दे, और योगस्थ होकर कर्मों का आचरण कर'।[14] इसके बाद यह कहकर कि 'फल की आशा से कर्म करने की अपेक्षा समबुद्धि का यह योग ही श्रेष्ठ है'[15], इस योग का यह लक्षण फिर भी बतलाया है कि 'योगः कर्मसु कौशलम्'।[16]

श्रीमद्भगवद्गीता का निम्नलिखित श्लोक कृष्ण की शिक्षाओं में कर्मयोग के महत्त्व का एक अद्भुत उदाहरण है।

योगस्थःकुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।[17]

अर्थात् हे अर्जुन, अपने भीतर रहकर, आसक्ति का त्याग करके अपने कर्म करोय सफलता या विफलता में एक समान रहो, क्योंकि समता ही योग है, ऐसा कहा जाता है। वर्तमान समय में इस सन्दर्भ में यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं: किसी विशेष कार्य को करने में विचलित होने के बजाय अपनी आंतरिक दृष्टि पर ध्यान केंद्रित रखें। उन तनावों के सामने शांत रहें जो आपको आपके आंतरिक केंद्र से दूर ले जाते हैं। अपने कार्यों की गुणवत्ता के प्रति सचेत रहें।

यहाँ पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि गीता में योग शब्द से सदैव 'पातंजल योग' अर्थ अभिप्रेत नहीं होता। जैसे कि गीता में अर्जुन को जो उपदेश दिया गया है कि तस्माद्योगी भवार्जुन[18], उसका अर्थ ऐसा नहीं हो सकता कि 'हे अर्जुन! तू पातंजल योग का अभ्यास करने वाला बन जा।' इसलिए उक्त उपदेश का अर्थ ''योगस्थः कुरु कर्माणि''[19] ''तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्''[20] ''योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत''[21] एवं 'कर्मयोगेण योगिनाम्''[22] इत्यादि वचनों के अर्थ के समान ही होना चाहिए।

3. भक्तियोग

भक्तियोग ईश्वरप्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। भक्ति का अर्थ है परमात्मा से दिव्य प्रेम। हम जो हैं उस परम चेतना का ज्ञान भक्ति है। संसार की समस्त पहचान का विस्मरण और अन्तहीन प्रेम की प्राप्ति का प्रतिक्षण अनुभव करना ही वास्तव में भक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीता में भक्तियोग को मुक्ति अर्थात् अन्तिम सत्य के अनुभव करने का मार्ग कहा गया है। श्रीकृष्ण गीता के भक्तियोग नामक बारहवें अध्याय में भक्तियोग का वर्णन इस प्रकार करते हैं -

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता।।[23]

गीता के बारहवें अध्याय के अतिरिक्त भी नवम[24], दशम[25] एवं एकादश[26] अध्यायों में भी प्रमुख रूप से भक्ति का उल्लेख प्राप्त होता है।

भक्त भगवान में विलीन हो जाए यही भक्ति की पराकाष्ठा है। इसलिए श्रीकृष्ण समर्पणभाव से भक्तिकरने का उपदेश देते हैं -

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मयि एव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।[27]

भक्तियोग के अन्तर्गत समत्व योग का वर्णन भी उपलब्ध होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो हर्षित नहीं होता, द्वेष-चिन्ता-आशा-शुभाशुभ का परित्याग करता है, वह भक्तिपरायण मनुष्य मुझे सर्वप्रिय है -

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।[28]

समत्व योग की यह भावना वर्तमान सन्दर्भ में भी अपनी उपादेयता बनाए हुए है। जैसे कि हम देखते भी हैं कि व्यक्ति थोड़ा-सा कुछ पाकर अत्यंत प्रसन्न हो जाता है, पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान के चक्कर में वह भूल जाता है कि ये सब विनाशशील हैं। इसलिए उसे न तो इनके संयोग में अत्यधिक प्रफुल्लित होना चाहिए और न ही वियोग में शोक ही करना चाहिए। यह समत्व की भावना मनुष्य के जीवन में भी सन्तुलन स्थापित करती है।

भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षाओं की बारीकियों को ध्यान में रखना हमेशा आसान काम नहीं होता है। गीता की शिक्षाएं जीवन को प्रेरित करने वाले मार्गदर्शन व उद्देश्यों के साथ, हर पाठ के साथ एक नया दृष्टिकोण प्रदान करती हैं। गीता ज्ञान, कर्म और भक्ति योग के संदर्भ में विशेष रूप से समृद्ध हैं। वर्तमान सन्दर्भ में इसके समुचित विमर्श से गीता को नए सिरे से पढ़ने से नई अंतर्दृष्टि प्राप्त होगी। जिससे मानव मात्र के जीवन की अनेक समस्याओं के समुचित समाधान का मार्ग प्रशस्त होगा।

दौलतराममहाविद्यालयः,
दिल्ली विश्वविद्यालयः

संदर्भ सूची

1. कठोपनिषद्, 9.11
2. अमरकोष, 3.3.22.2.1
3. जैमिनीयसूत्रम्, 1.1
4. ब्रह्मसूत्रम्, 1.1
5. श्रीराम शर्मा, 108 उपनिषद, साधना खण्ड, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, मथुरा, पृ. 210
6. गीता 13.11
7. गीता 4.33
8. गीता 4.36
9. गीता 4.39
10. गीता 4.37
11. गीता 2.50
12. गीता 2.39
13. गीता 2.41-49
14. गीता 2.48
15. गीता 2.49
16. गीता 2.50
17. गीता 2.48
18. गीता 9.49
19. गीता 2.48
20. गीता 2.50
21. गीता 4.42
22. गीता 3.3
23. गीता 12.2
24. गीता, 9.1, 2, 34
25. गीता, 10.3-10
26. गीता, 11.54
27. गीता 12.8
28. गीता 12.17

शोध-पत्र

प्रीति कुमारी

बनारसी प्रसाद भोजपुरी के कथा-साहित्य में समाज

बनारसी प्रसाद भोजपुरी का जन्म भोजपुर के बड़हरा ग्राम के एक किसान परिवार में 1904 ई. की आषाढ़ पूर्णिमा (27 जुलाई) को हुआ था। इनके पिता मुंशी रामवरण लाल उस इलाके के खाते-पीते किसान माने जाते थे।

अपने साहित्यक जीवन में इन्होंने कुल पाँच उपन्यास व ग्यारह कहानियों का सृजन किया। जो निम्नवत हैं-

'हलवाहे का बेटा', 'मायासुन्दरी', 'गरीब की आह', 'अर्द्धंगिनी', 'मैदाने जंग' (उपन्यास) व एक कहानी संग्रह 'दो प्राणी'। अपने में इन्होंने बीसवीं शती के भारतीय समाज को जीवंत किया है। तत्कालीन भारतीय समाज को जानने-परखने में इनका साहित्य महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हो सकता है।

मानव जीवन की विशिष्ट विशेषताओं में से एक उसका सामाजिक जीवन का स्वरूप भी सम्मिलित है। जीवित रहने के लिए सभी मनुष्य एक-दूसरे के साथ अन्त:क्रिया करते हैं। महान यूनानी दार्शनिक अरस्तू (384 -322 ई. पू.) ने कहा है कि-''मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में रहने के लिए प्रेरित करते हैं।''

सबसे पहले स्पष्ट रूप से 1838 ई. में फ्रांसीसी दार्शनिक और समाज वैज्ञानिक ऑगस्ट कॉम्टे ने 'समाजशास्त्र' शब्द दिया और समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र तथा उसकी अध्ययन पद्धति निर्धारित की।

बनारसी प्रसाद भोजपुरी के कथा-साहित्य में समाज कई आधारों पर बँटा हुआ है। ये आधार हैं-

(1) धार्मिक
(2) पारिवारिक
(3) आर्थिक
(4) शैक्षिक
(5) लैंगिक

धर्म जीवन-यापन का साधन है, जो जीवन से दूर है वह जीवन के लिए अनुपयोगी है। अनुपयोगी मान्यताओं का बौद्धिक या वैचारिक महत्व हो सकता है परन्तु सामाजिक नहीं। धर्म-दर्शन धर्म के क्षेत्र में जीवनोपयोगी मूल्यों को प्रकट करता है तथा धर्म की सामाजिक उपयोगिता सिद्ध करता है, स्थिति, जीवन्मुक्त आदि धार्मिक आदर्श जीवन के लिए उपयोगी है।

उपन्यास 'हलवाहे का बेटा' के नायक कृष्णबहादुर की माँ मुन्ना की धर्म में गहरी आस्था है। वह गाँव में होनेवाले धार्मिक गोष्ठियों में सम्मिलित होती है एवं अपने विचारों को बड़े ही तर्कपूर्ण तरीके से प्रस्तुत करती है। जिसके कारण उसे विदुषी की संज्ञा दी गई है। धार्मिक विचारों के प्रभाव से ही उसकी सोच सकारात्मक है। जीवन की धारा अपेक्षाकृत अधिक संयमित वे संतुलित है।

वही कहानी 'पुजारिन' की नायिका देवी की परम भक्त है। देवी में उसकी गहरी आस्था है। देवी की दयालुता के कारण ही उस साधारण-सी लड़की की शादी एक राजकुमार से होती है। ''आशालते! प्यार की गोद में सोने वाली आशालते! यौवन व उन्माद में बिहरने वाले अरविन्द। तुम्हारे दिन सुख से व्यतीत हों। आकाश से एक ध्वनि आई। सुनते हैं, अरविन्द एक राजकुमार था।''[1]

धार्मिक उन्माद जब हद से ज्यादा बढ़ जाए तो यह पूरे

मानव समाज को विनाश के मुहाने पर लाकर छोड़ देता है। कहानी 'विश्वासघात' में समाज धर्म के आधार पर दो गुटों में बंटा हुआ है। हिन्दू व मुस्लिम दोनों समुदाय प्रतिहिंसा की आग में जल रहे हैं। साधारण ग्वाला मस्तराम को दंगाइयों के हाथों मौत के घाट उतार दिया जाता है उसका कसूर बस इतना था कि वह हिन्दू था। धार्मिक उन्माद के शोर में मानवता की आवाज कहीं दब-सी गई है। हिन्दू व मुसलमान सिर्फ धर्म के नाम पर मानव समाज की हत्या कर रहे हैं। कहानी 'विश्वासघात' की घटना दृष्टांत के रूप में प्रस्तुत है-

''उस लड़के का भी कोई कसूर नहीं था। लेकिन, चूँकि वह मुसलमान था, इसलिए हिन्दुओं ने उसे मार डाला। आज तुम भी मुसलमानों के बीच एक हिन्दू की हैसियत से खड़े हुए हो।''[2]

हिन्दू धर्म कई वर्णों में विभक्त होकर अंदर-ही-अंदर खोखला होता जा रहा है। वार्णिक कुटयवस्था के कारण हिन्दू धर्म में सामाजिक विषमता स्पष्ट रूप से लक्षित है। उपन्यास 'हलवाहे का बेटा' में कथाकार बनारसी प्रसाद भोजपुरी ने हिन्दू धर्म से संबंधित इन्हीं विचारों को पात्र मुन्ना माँ से कहलवाया है-

'हिन्दू धर्म में यही कमी है। जिस जाति के अंदर मेल नहीं है, वह कमजोर रहेगी ही। आपस में मेल भी तब तक नहीं हो सकता जब तक सभी लोगों के दिमाग में एक-दूसरे के प्रति सदभावना उत्पन्न नहीं होती। यहाँ तो मनुष्य, मनुष्य के साथ घृणा करता है। भगवान ने सभी को एक साँचे में बनाया, लेकिन हमने अपनी विकृत बुद्धि के बल पर आपस में खाइयां डाल दी। अछूतों के दिमाग में हिन्दू जाति और हिन्दू धर्म के प्रति जो अश्रद्धा उत्पन्न होती जा रही है व अस्वाभाविक नहीं है। धर्म मानने का अर्थ धार्मिक गुलामी नहीं है। यह कैसा धर्म है कि ब्राह्मण लाख बुरा हो तो भी उसकी पूजा होनी ही चाहिए। मेरे ख्याल में यह धर्म की विडंबना है।'[3]

प्रस्तुत उपन्यास में ही लेखक ने टुकड़ों में विभक्त समाज को दिखाया है। समाज में सवर्णों का दबदबा है। दलित, प्रताड़ना के खिलाफ अपनी आवाज तक नहीं उठा पाते। अपनी दयनीय स्थिति को नियति मान बैठे हैं।

एक अनाथ दलित बालक दुखहरन मवेशियों को चराने का काम करता है। एक दिन एक मवेशी खो जाने पर जमींदार के बेटे द्वारा उसकी भरपूर पिटाई होती है। इस घिनौने कृत्य को देखने के बाद भी किसी का ह्रदय द्रवित नहीं होता। उल्टे जमींदार के बेटे का ही समर्थन करते हैं-

'इतना कहकर जमींदार के बेटे ने दुखहरण के सिर पर तड़ातड़ जूते चलाये। दुखहरण गिर पड़ा उनका सिर फूट गया। थोड़ी देर तक उन्हें मूर्छा भी आ गयी। पड़ोस के दूसरे लोगों ने भी नहीं छुड़ाया। बल्कि, कुछ लोगों ने उसके गिरने और चिल्लाने के बाद जोर-जोर से कहा - 'मार, मार, खूब मार, सरवा चोर है। तूर दे एकर हाथ-गोड़।' जमींदार के बेटे ने उसकी टांग में रस्सी बंधवाकर अपने दूसरे नौकर के जरिए उसे दरवाजे से बाहर कर दिया।'[4]

ऐसे दमघोंटू माहौल में क्रिश्चयन धर्म का प्रतिनिधि फादर लुई फिशर उसकी सहायता करते हैं। उसका इलाज करवाकर उसे ईसाई मिशनरी में पढ़ने की सुविधा देते हैं। बाद में वह क्रिश्चयन धर्म अपनाकर दुखहरण से न्यमैन बन जाता है।

एक हिन्दू का धर्म परिवर्तन कर ईसाई बन जाने की घटना समाज को चिंतित नहीं करती बल्कि कुछ लोग अपनी प्रतिक्रिया इन शब्दों में देते हैं-

'दुखहरण के जाति-बिरादरी वालों को यह खबर मिल गयी कि दुखहरण मिशन स्कूल में भर्ती हुए हैं, और वहीं रहते भी हैं। लेकिन उन्हें इस बात के लिए जरा भी ग्लानि और चिन्ता नहीं हुई। बल्कि उन लोगों ने आपस में मिलकर निश्चय किया कि यदि दुखहरण कभी भी गांव में आये, तो उनकी एक भी हड्डी दुरूस्त नहीं छोड़ी जाएगी। गांव के दूसरे लोगों ने भी जब यह जान लिया कि वे मिशन स्कूल में पढ़ रहे हैं, तो उपेक्षा के शब्दों में कहने लगे-'जाने दो, सरवा चोर था। यहां रहता तो चोरी ही न करता। भले विधर्मी हो गया।'[5]

इस घटना के कई वर्षों बाद पुनः दलित समुदाय द्वारा सामूहिक धर्म-परिवर्तन दिखाया गया है। सवर्णों के अत्याचार के विरोध में वे धर्म-परिवर्तन का निश्चय करते हैं।

'अछूत लोग ईसाई होने जा रहे थे। कुछ हिन्दुओं ने उनके साथ ज्यादती की थी। बस उसी के विरोध में उन लोगों ने धर्म-परिवर्तन करने का निश्चय कर लिया।'[6]

वर्ण व्यवस्था की यह असमानता सिर्फ सवर्ण और अवर्ण के बीच ही नहीं बल्कि आर्थिक आधार पर सवर्णों

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

के बीच भी है। कृष्णबहादुर सवर्ण जाति का है लेकिन चूँकि उसके पिता एक हलवाहा है इसलिए समाज में उसका दर्जा निम्न श्रेणी का है।

''एक बार मेरे दादा ने भी एक धोबी के यहाँ दो वर्षो तक हल चलाया था। इस प्रकार मेरा खानदान सदियों से पिछड़ा हुआ और हलवाहा वर्ग का है, यह मानना पड़ेगा।''[7]

समाज में हिन्दू स्त्रियों की अपेक्षा क्रिश्चयन धर्म की स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है। वे शिक्षित है विवेकशील है और जीवन के महत्वपूर्ण निर्णय स्वयं लेती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण मेरी का है।

''इस वक्त तुम्हारे संरक्षक कौन है बेटी? - मुन्ना माँ ने पूछा।

'मेरे मामा जान मथाई हैं।'

'क्या मैं अपना प्रस्ताव उनके पास भेज दूं?'

'नहीं माताजी, विवाह के लिए मेरे संरक्षक की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है।'

'क्या तुम स्वतंत्र हो?'

'हाँ'। - मेरी ने दृढ़ता के साथ जवाब दिया।''[8]

अपने अन्य उपन्यास 'गरीब की आह' को भोजपुरी जी स्वयं सामाजिक उपन्यास की संज्ञा देते हैं।

गाँव में विभिन्न वर्णों के लोग रहते हैं। सवर्णों का बोलबाला है। शिवशंकर शर्मा ब्राह्मण है, यजमनिका धर्म न होकर उनका व्यवसाय बन चुका है। उनकी गणना इलाके के धनी व्यक्तियों में होती है। ''शिवशंकर शर्मा एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण; पढ़े-लिखे, कर्मकांडी। यजमनिका से पूरी आमदनी। शंकरपुर में कोई भी उनका मुकाबला नहीं कर सकता।''[9]

उन्हीं की जमीन पर आश्रित रमई दलित है। किसी प्रकार दो जून की रोटी का इंतजाम कर पाता है। उसकी किसी बात से नाराज होकर शिवशंकर शर्मा उसे गांव से बाहर चले जाने को कहता है। इसके लिए उसे डराता-धमकाता है।

'देखो, तुम्हें मैं एक सप्ताह का और मौका देता हूँ। इस अवधि के अन्दर ही अपनी श्राद्ध-क्रिया समाप्त कर लो। इसके बाद तुम्हें गाँव को छोड़कर चला ही जाना होगा'- शिवशंकर शर्मा ने रमई के घर जाकर खुद कहा।[10]

इस प्रकरण से यह लक्षित होता है कि गाँव समाज पर वर्चस्व ब्राह्मणों का है। ऐसा लगता है कि उसे दलितों पर ज्यादती करने का अधिकार प्राप्त है। ब्राह्मणों के अन्याय का विरोध दलित वर्ग नहीं करता है। उनमें साहस व एकता की कमी है। गाँव के जातीय समीकरण धुंधले नजर आते हैं।

ऐसी विषम परिस्थिति को दूर करने में भोजपुरी जी युवा पीढ़ी पर अपना भरोसा जताते हैं। वे समाज के उन्नायक के रूप में युवा पीढ़ी को देखते हैं। ब्राह्मण कुमार सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ते हुए दलित रमई के खाता-पीता है उसकी पुत्री रमिया को पढ़ाता है एवं अंत में उसी रमिया से विवाह कर उसके अपना जीवनसाथी बना लेता है।

''रमियाँ, सुनो, एक बात पूछना चाहता हूँ। - शंभु शर्मा ने जोर से कहा।

'क्या'?

रमियां ठहर गयी।

'मेरी प्रतिन्ता तो पूरी हो गयी।'

'तो' ?

'अब कानूनी, ढंग से वैवाहिक संबंध स्थापित कर लेना चाहिए?''[11]

वहीं सावित्री सवर्ण है एवं रमियां की सहेली भी। वह बेहार रमियां व उसके पिता को अपने घर में शरण देती है। सावित्री के पिता रामजी बाबू रमियां के साथ छुआ-छूत करते हैं लेकिन सावित्री के मन में रमियां के प्रति जरा भी मैल नहीं है।

''रमियां भी खुश रहती थी। सावित्री सखी के साथ रात-दिन रहने का अवसर मिलता था। सावित्री पर उसे विश्वास था और सावित्री भी उसे दिल से प्यार करती थी। उन दोनों के बीच ऊँच और नीच का भेद मिट चुका था। सावित्री कायस्थिन थी और रमियाँ चमाइन। फिर भी दोनों का रहन-सहन एक था। दोनों एक साथ घुल-मिलकर रहती थीं।''[12]

शहरों में सामाजिक वर्चस्वता का आधार अर्थ है, यहाँ 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ है। मुकुट बिहारी धनी सेठ का पुत्र है। अपने धन पर उसे घमंड है धन के द्वारा संसार की प्रत्येक वस्तु को खरीद लेने का दंभ भरता है।

और रमियाँ? नहीं, वह भी मुझे ठुकरा नहीं सकती। उसे मैंने इधर अच्छी-अच्छी साड़ियाँ भेजी हैं। कुछ सोने

का जेवर भी बनवा दूँगा। वह समझेगी, मैं शम्भु का दोस्त हूँ और दोस्ती में यह सब भेंट दे रहा हूँ। शम्भु भी इन भेंटों के कारण मुझ पर अधिक विश्वास करने लगेगा और तभी ओमप्रकाश की बातों का उसके ऊपर कोई असर नहीं हो सकेगा। सबसे बड़ी बात है कि अभी एक महीने के अन्दर उसे मैंने दो सौ रूपए मदद में देने के लिए कहा है, इस वक्त की मेरी आर्थिक सहायता उसके ऊपर कुछ गंभीर असर डालेगी।[13]

धन के मद में अंधा होकर वह अपने तथाकथित दोस्त ओमप्रकाश व शंभु शर्मा को प्रताड़ित करता है। जहाँ ओमप्रकाश को वह सरेआम सड़क पर गुंड़ों से पिटवाता है तो वहीं शंभु शर्मा की पत्नी रमियाँ से बलात्कार करने की कोशिश को अंजाम देता है।

''तो उसे क्या करना है? - लतीफ हुसैन ने मुस्कुराते हुए पूछा।

'इसी गली में उसे जूतों से मारकर गिरा दिया जाए, बस, यही मैं चाहता हूँ।' - मुकुटबिहारी गिड़गिड़ाते हुए बोले।''[14]

''तुम्हारी इज्जत धूल में मिलाकर छोड़ूँगा। देखता हूँ तुम अपने सतीत्व की रक्षा कैसे करती हो?''

इतना कहते हुए मुकुटबिहारी ने उसे बेहुरमत करना चाहा। वह चिल्ला उठी।''[15]

वहीं शिक्षा के क्षेत्र में देखा जाए तो गाँव में एक अछूत विद्यालय है जहाँ हर वर्ण के विद्यार्थी पढ़ते है, यहीं एक ऐसी जगह है जहाँ सारे भेद-भाव मिट जाते हैं।

समाज में दलित वर्ग की स्त्रियों को सवर्ण जाति की स्त्रियों से अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है।

जहाँ दलित रमियाँ को पढ़ाई-लिखाई के मामले में पूरी छूट है। वहीं सवर्ण जाति की चंचला को पढ़ते देखकर उसके चाचा हमेशा डांटते-फटकारते रहते हैं। ''मत पूछो सखी, चाचाजी ऐसे हैं कि जब मुझे कोई पुस्तक पढ़ते देखते हैं, तो झुंझलाकर बोल उठते हैं-'भाई को क्या कहूँ? भला लड़कियों को भी कभी पढ़ाना चाहिए। जब देखो तब एक-न-एक पोथी लेकर पढ़ती रहती हैं। क्या पोथी ही खाना देगी? जिस घर में इसकी शादी होगी, वह घर चौपट हो जाएगा'- इतना कहते हुए वे मेरे हाथ से पुस्तक छीन कर फेंक देते हैं।''[16]

उपर्युक्त प्रकरण यह दर्शाता है कि तत्कालीन समाज में दलितों व स्त्रियों दोनों की स्थिति सोचनीय है।

जहाँ एक तरफ समाज में परंपरागत रूढ़िगत जटिलता है तो वहीं युवाओं के नवीन सोच का आग्रह भी है।

रूढ़िवादिता की यह कालिमा ज्ञान के प्रकाश से ही हँट सकती है।

शंभु शर्मा ओमप्रकाश रमियाँ व सावित्री नये युग के पथ-प्रदर्शक है।

बनारसी प्रसाद भोजपुरी के एक अन्य उपन्यास 'मायासुंदरी में विभिन्न वर्गों के सामाजिक वर्चस्व सत्ता पर अनैतिक नियंत्रण व प्रभुत्वशीलता को दिखाया गया है।'

समाज में अनेक वर्गों के लोग एक साथ रहते हैं। राज्य में राजतंत्र की आड़ में जमींदार संघ, काश्तकार एसोसिएशन एवं धर्म महासंघ समाज पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए है। किसी भी प्रकार से वह अपना अधिकार छोड़ना नहीं चाहते हैं।

''सरकार भी योजना पर विचार करने लगी थी। सिर्फ पूँजीवादी विचार के लोगों, संस्थाओं तथा रूढ़िवाद और कहर मजहबी लोगों ने योजना का विरोध किया था। जनसमाज का जनता में व्यापक प्रभाव को देखते हुए विरोधी विचार के लोगों ने तीन अलग-अलग संस्थाओं की स्थापना की थी, जिनका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, और जनसमाज तथा उसके द्वारा प्रस्तुत योजना का उन संस्थाओं ने सख्त विरोध करना प्रारंभ कर दिया था।''[17]

इस उपन्यास में भी भोजपुरी जी सत्ता में परिवर्तन की जिम्मेदारी युवाओं को सौंपते हैं, विशेषत: स्त्री के हाथ में। मायासुन्दरी शिक्षिका है, अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों से पूर्णत: परिचित है वह समाज के तथाकथित ठेकेदारों को नियंत्रित करने हेतु राज्य में लोकतंत्र की स्थापना का पहल करती है।

यहाँ भी सवर्ण राजनीतिक दांव-पेंच व अर्थबल के सहारे सत्ता में आना चाहते हैं। इनके द्वारा पैसे के बल पर लोकतंत्र को नियंत्रित करने की साजिश की जाती है।

''समिति ने राजा के सलाहकारों के विचारों को प्रभावित करने के लिए घूस को प्रधान आधार बनाया था। सलाहकार घमंडी सिंह, पाखंडी सिंह और लोभी सिंह को दस-दस हजार प्रति व्यक्ति सलामी की रकम देकर अपने अनुकूल कर लिया था। फजीलत हुसैन को हत्या का भय दिखाकर तटस्थ रहने के लिए मजबूर कर दिया गया था।

दरबार सिंह को सिर्फ तटस्थ रहने के लिए काफी रकम दी गयी थी। दरबार सिंह ने समिति को आश्वासन दिया था कि राजा को वे समझायेंगे कि सरकार जनसमाज को जल्द अवैध घोषित करे, और उसके नेताओं और प्रमुख कार्यकर्त्ताओं को जेल में बंद कर दे।[18]

समाज में हिन्दू के साथ-साथ मुस्लिम समुदाय के लोग भी रहते हैं। मुसलमान जूहर अली एक हिन्दू लड़की मायासुन्दरी को अपना बहन मानकर उसकी रक्षा करने का प्रण लेता है। यह दृष्टांत सामाजिक सौहार्दता की मिसाल है।

''मेरे भाई, मैं आपकी भावना से प्रभावित हूँ। अगर आप मेरे साथ औरतों की हिफाजत के लिए हर तरह की कुर्बानी करने के लिए तैयार हैं, तो आप सचमुच मेरे भाई हैं, और आप की सच्चाई पर मुझे पूरा यकीन है।' मायासुन्दरी तलमलाती हुई खड़ी हो गई, जहूरअली ने उसे पकड़ लिया, और धीरे से कहा-'खुदा मेरी बहन अच्छा कर इसकी देह में अपनी ताकत भर दे, जिससे समाज की बुराईयों को बहादुरी के साथ यह दूर कर सके।''[19]

समाज के कई युवा नेता समाज में बदलाव हेतु शिक्षा को एक महत्वपूर्ण साधन मानते हैं। गांवों में पुस्तकालय खोलकर व्यक्ति के विचारों को उन्नत बनाने का कार्य किया जा रहा है।

''पुस्तकालय तो जनता को जागृत करने का सुगम एवं उपर्युक्त माध्यम है। यदि पुस्तकालय में उपयोगी पुस्तकों का चयन किया जाए और उन पुस्तकों के द्वारा जनता को ज्ञानवर्द्धन कराने की योजना ग्रामपंचायत के द्वारा बनायी जाए, तो निश्चय ही जनता की समझदारी बढ़ायी जा सकते है।''[20]

समाज में परंपरागत गुण-दोष है तो वहीं उन्नत विचारों को अपनाकर बदलाव की पुकार भी है। भोजपुरी जी द्वारा रचित उपन्यास 'अर्द्धांगिनी' में दहेज प्रथा की कुरूपता को दिखाया है। इसके साथ ही समाज में श्रेत्रीयता व प्रांतीयता भी एक प्रश्न के रूप में उपस्थित है।

प्रणय के मार्ग में स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंध से कहीं अधिक महत्वपूर्ण क्षेत्रीयता है। नीलिमा व सुरेश एक-दूसरे से प्रेम करते हैं व शादी करना चाहते हैं। चूँकि नीलिमा एक बंगाली परिवार की लड़की है और सुरेश बिहारी है इसलिए सुरेश के पिता इस रिश्ते को अस्वीकार कर देते हैं।

जहाँ सुरेश के माता-पिता दहेज के लोभ में सुरेश की शादी एक गूंगी लड़की से तय कर देते हैं। शादी के दिन सुरेश के भाग जाने के पर पुनः अत्यधिक दहेज के लोभ में सुरेश की फोटो से ही शादी करा दी जाती है।

'बिना वर के विवाह-संस्कार संपन्न नहीं किया जा सकता।' 'लेकिन जब तिलक के अवसर पर वर की अनुपस्थिति में उसके फोटो या लोटा को दान कर तिलक चढ़ा दिया जा सकता है, तब कोई कारण नहीं कि वर की अनुपस्थिति में उनके फोटो से काम न लिया जा सके।' - ज्योतिषाचार्य बोले।

'लेकिन यहाँ सिन्दूर-दान करने की बात है, ज्योतिषाचार्य जी।

'हाँ, मैं इसे शास्त्र-सम्मत ही मानता हूँ।''[21]

वहीं नीलिमा के पिता अत्यधिक तिलक-दहेज न दे पाने के कारण नीलिमा की शादी एक विधुर नलिनी रंजन राय के साथ करने को विवश है।

'हाँ, कहती थी कि उसके पिता ने नीलिमा के लिए एक योग्य वर का पता किया है।'

'हाँ, वे कह रहे थे कि नलिनी रंजन राय एक बहुत बड़े फर्म के मैनेजर हैं। हाल ही में उनकी पहली स्त्री का देहांत हो गया। उम्र भी कोई तीस से ज्यादा नहीं होगी। देखने में हृष्टपुष्ट हैं। काफी रूपए कमा रहे हैं।'[22]

दहेज-प्रथा का यह क्रूर प्रदर्शन सिर्फ बीसवीं शताब्दी तक ही सीमित नहीं रहा है। वर्त्तमान समय में भी यह काफी फल-फूल रहा है, संविधान में इसके लिए कई नियम-कानून बनाए गए हैं, लेकिन दहेज लेनेवालों के मन में न कोई डर पैदा हुआ न ही उनके हाथ कांपे। हमारा समाज आज भी इस प्रथा का दंश झेल रहा है।

नीलिमा व सुरेश के विवाह के मध्य क्षेत्रीयता की ऊँची दीवार है, जिसे सुरेश के पिता आवश्यक मानते हैं। वहीं इस उपन्यास का एक पात्र रघुराई बाबू क्षेत्रीयता के इस भेदभाव को खत्म करने के लिए अपने बेटे की शादी अलग प्रांत की लड़की से करते हैं। इसके लिए उन्हें सामाजिक व पारिवारिक अवहेलना झेलना पड़ता है, लेकिन वे अपने निर्णय के प्रति अड़िग रहते हैं, धीरे-धीरे सबकुछ सामान्य हो जाता है।

'सज्जनों ! मुझे आज बहुत खुशी है कि पार्टी में भी

अब हम सामाजिक रूढ़ियों पर विचार करने लगे। रूढ़ियाँ तो भयानक हैं, पर इन्हें तोड़ने में ही समाज का कल्याण है। गत वर्ष मैंने अपने लड़के का विवाह एक खत्री महोदय की सुशिक्षिता कन्या के साथ किया। उस विवाह में मेरा कोई खास मत नहीं था। पर जब मेरे लड़के की इच्छा हुई, और जब उसने लड़की की भी सम्मति मुझे सुनाई, तब मैंने भी अपनी स्वीकृति दे दी। खत्री महोदय आर्यसमाजी थे। उन्होंने जब मेरे यहाँ पत्र लिखकर विवाह का जिक्र किया, तब मैंने लड़के से सीधे बातचीत करने की बात लिख दी। विवाह तय हो गया। लेकिन जब बारात चलने का न्यौता दिया गया, तब रूढ़ियों के फेर में पड़ने वाले मेरे कई नातेदारों एवं दोस्तों ने मेरा साथ नहीं दिया। जाति-च्यूत करने में तो वे न मालूम क्यों एकदम सहम गये, पर उन्होंने मेरा मौन बहिष्कार अवश्य किया। मैंने भी उनकी उपेक्षा की। नतीजा यह हुआ कि कुछ दिनों तक वे मुझसे अलग रहे अवश्य पर पीछे धीरे-धीरे वे इस प्रतीक्षा में रहने लगें कि मैं कब उन्हें भोजन के लिए निमंत्रण दे रहा हूँ। एक दिन उनके आग्रह से ही मैंने एक छोटा-सा भोज दिया था, जिनमें उन लोगों ने प्रेम से भोजन किया। उस भोज में सभी जाति के लोग थे, पर किसी ने कोई ऐतराज नहीं किया। तो मेरे कहने का अर्थ यही है कि समाज की रूढ़ियों को तोड़ने के पहले जो भी कठिनाई दिखाई पड़े उसे तोड़ देने बाद कोई भी कठिनाई नहीं रह जाती।''[23]

लेखक ने उपरोक्त उद्धरण के माध्यम से समाज को आईना दिखाया है कि शादी-विवाह प्रणय का मार्ग है, इस मार्ग पर चलने के लिए दो हृदयों का एकीकरण होना जरूरी है न कि दो जाति और धर्मों का। व्यक्ति अगर प्रयास करे तो समाज को अपने रूढ़िबद्ध नियम तोड़ने ही होंगे। समाज का हर तो नियम जो अनावश्यक हो चुका है तोड़ देना चाहिए।

उपन्यास 'मैदाने जंग' में लेखक ने पुनः स्त्रियों की शिक्षा का प्रश्न उठाया है। समाज को ज्ञान के सहारे ही उन्नति के रास्ते पर लाया जा सकता है। स्त्रियां आधी आबादी है। समाज का आधा अंग है और अगर यह अंग कमजोर दुर्बल रह गया तो समाज की प्रगति में बाधक सिद्ध होगा।

नायिका शांता कुमारी स्त्रियों के शिक्षा का महत्त्व बताते हुए कहती है-''यह निर्विवाद है कि जब तक स्त्रियां शिक्षिता नहीं होती, उनमें विकास नहीं होता, तब तक देश का उत्थान होना असंभव है। माता ही भावी संतानों को उज्ज्वल करनेवाली हैं। नरों की खान नारियों की उपेक्षा करना देश को हमेशा पतन के गहरे गर्त्त में डाले रहना है। मुझे यह बात जानकर बड़ी तकलीफ हुई कि मोहनपुर की औरतें देश-दुनिया की बातें कुछ भी नहीं जानती। वे रात-दिन घरों की चहारदीवारी के अन्दर बन्द रहती हैं, और दुनिया की गलीज बातें सोचा और बका करती हैं। उनका जीवन तो पशुओं से भी बदतर है। गयासपुर में स्त्रियों की शिक्षा अनिवार्य है। यही कारण है कि उस देश में स्त्रियां गन्दी-गन्दी बातें नहीं कहा करतीं।''[24]

बनारसी प्रसाद भोजपुरी ने अपने सभी उपन्यास में समाज के प्रत्येक रूप-रंग को चित्रित किया है। इन्होंने एक तरफ जहाँ समाज में व्याप्त विभिन्न समस्याओं को जाँचा परखा है तो वहीं उस दोष का समाधान भी प्रस्तुत कर दिया है।

बनारसी प्रसाद भोजपुरी सबसे ज्यादा युवा पीढ़ी पर अपना भरोसा जताते हैं। युवा-वर्ग ऊर्जा का पुंज होता है। इस ऊर्जा को अगर समाज कल्याण में लगा दिया जाए तो समाज का कायाकल्प हो जाएगा।

हमारे समाज की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि मत्स्य नीति पर कार्य करती है जहाँ बड़ी मछली हमेशा छोटी मछली को निगलने के प्रयास में है।

समाज में भी सवर्ण दलितों व शूद्रों पर कब्जा जमाना चाहता है तो अमीर, गरीबों पर एवं पुरुष, स्त्रियों के ऊपर। हर प्रबल वर्ग, कमजोर वर्ग पर अपना आधिपत्य चाहता है।

हमारे समाज को मत्स्य नीति की नहीं पिपलीका नीति की आवश्यकता है। जहाँ प्रत्येक चींटी का कर्त्तव्य व अधिकार एकसमान है। उनमें किसी भी प्रकार का असमानता का भाव नहीं है। ऐसे ही आदर्श समाज के निर्माण में भोजपुरी जी प्रयासरत है। उनका साहित्य अवश्य ही समाज में समन्वय का महत्वपूर्ण साधन सिद्ध होगा।

शोधप्रज्ञा
विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग
तिलकामांझी भागलपुर
विश्वविद्यालय, भागलपुर

संदर्भ सूची

1. कुमार, अरविन्द्र (सं.) ''बनारसी प्रसाद भोजपुरी रचनावली'' खण्ड–1, अभिधा प्रकाशन, पृष्ठ– 414
2. वही, पृष्ठ सं.–390
3. वही, पृष्ठ सं.–91
4. वही, पृष्ठ सं.–67
5. वही, पृष्ठ सं.–68
6. वही, पृष्ठ सं.–91
7. वही, पृष्ठ सं.–62
8. वही, पृष्ठ सं.–225
9. कुमार, अरविन्द्र (सं.) ''बनारसी प्रसाद भोजपुरी रचनावली'' खण्ड–2, अभिधा प्रकाशन, पृष्ठ–13
10. वही, पृष्ठ सं.–49
11. वही, पृष्ठ सं.–153
12. वही, पृष्ठ सं.–52
13. वही, पृष्ठ सं.–138
14. वही, पृष्ठ सं.–157
15. वही, पृष्ठ सं.–171
16. वही, पृष्ठ सं.–126
17. कुमार, अरविन्द्र (सं.) ''बनारसी प्रसाद भोजपुरी रचनावली'' खण्ड–1, अभिधा प्रकाशन, पृष्ठ–292
18. वही, पृष्ठ सं.–326
19. वही, पृष्ठ सं.–336
20. वही, पृष्ठ सं.–282
21. कुमार, अरविन्द्र (सं.) ''बनारसी प्रसाद भोजपुरी रचनावली'' खण्ड–2, अभिधा प्रकाशन, पृष्ठ–229

मृच्छकटिकम् में न्याय-व्यवस्था एक विश्लेषण

श्याम लता मीना

शूद्रक प्रणीत 'मृच्छकटिकम्' संस्कृत नाट्य परम्परा का महत्त्वपूर्ण रूपक है। जिसको प्रकरण की श्रेणी में रखा गया है। कवि शूद्रक ने इस नाटक में विविध विषयों के साथ-साथ सांस्कृतिक विषय के रूप में लोक-संस्कृति का भी स्वरूप निर्मित किया है। वह भी भारतीय संस्कृति व साहित्य के मध्य सेतु के रूप में दृष्टिगोचर होता है तथा बात करू न्याय व्यवस्था की तो प्राचीन काल से ही भारत में न्याय-व्यवस्था अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रही है। जिसका परिणाम हमें आज भी देखने को मिलता है। हमारे समाज में ना केवल आज से अपितु प्राचीन काल से सत्य का सतत् रूप से समुपस्थापन भारतीय न्याय व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य माना जाता है। एतदर्थ न्यायकर्म के लिए हमारे संस्कृत-साहित्य में व्यवहार शब्द के प्रयोग की परम्परा रही है। जो कि वि+अव+हार से निष्पन्न होता है। यहाँ 'वि' का अर्थ नाना, अनेक, बहुत, और 'अव' संदेहार्थक है तथा 'हार' का अर्थ है हरण या हटाना।

''विनानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते।
नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः॥

अर्थात् जो अनेक संदेहों को हटाता या दूर करता है वह व्यवहार कहलाता है। यदि हमें सत्य की स्थापना करना है तो सन्देहरूपी असत्य को दूर करना ही होगा। इसी को न्याय अथवा व्यवहार कहते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि-

''व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वभ्दिर्ब्राह्मणैः सह।
धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः॥''[1]

अर्थात् क्रोध एवं लोभ से विरहित होकर तथा विद्वान ब्राह्मणों को साथ लेकर राजा को चाहिए कि वह धर्मशास्त्रानुसार व्यवहारों (न्यायिक प्रकरणों) पर विचार अवश्व करें। इस प्रकार जो व्यवहार शब्द है वह न्याय के रूप में अर्थावबोधक के रूप में स्मृति ग्रन्थों में प्रयुक्त है।

जबकि मनुस्मृति में भी न्यायार्थक व्यवहार शब्द के बारे में उल्लेख किया है-

''व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत सभाम्॥''[2]

अर्थात न्यायिक प्रकरणों को देखने की इच्छा करता हुआ राजा ब्राह्मणों और मन्त्रज्ञाता मन्त्रियों के साथ विनीत होकर धर्माधिकरण (न्यायालय) में प्रवेश करें।

संस्कृत साहित्य शास्त्री के सुधी आचार्य मम्मट ने इसी व्यवहार ज्ञान को काव्य के प्रयोजनों में से एक माना है।

''काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः पर निर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥''[3]

शूद्रक के प्रसिद्ध प्रकरण ग्रन्थ मृच्छकटिकम् में भी व्यवहार शब्द दृष्टिगोचर होता है। जो कि न्याय के छल, प्रपंच युक्त वर्ण में अनुप्रयुक्त होता हुआ दिखलाई पड़ता है।

''तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं नय प्रचारं व्यवहारदुष्टताम्।
खलस्वभावं भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः॥''[4]

मृच्छकटिकम् संस्कृत-साहित्य के अप्रतिम नाट्यकार और लोकगत चेतना के अद्भूत शब्द शिल्पकार शूद्रक की प्रतिमा का चुडान्त निदर्शन है। कुल 10 अंकों में निबद्ध प्रकरण है। जिसमें द्विज सार्थवाह चारूदत्त तथा उज्जयिनी की अप्रतिम रोचक एवं हृदयावर्जन नाट्याख्यान है।

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

इसी के साथ-साथ इस प्रकरण में विभिन्न लोकाचार, न्याय व्यवस्था, दुष्ट वर्णन, भाग्य-विवेचन आदि का बड़े ही सुचारू ढंग से प्रस्तुत किया है।

बात करें व्यवहार दर्शन नामक नवम अंक एवं संहार नामक अंतिम दशम अंक में न्याय सम्बन्धि वर्णन दिखलाई पड़ता है। मृच्छकटिकम् के नवम अंक में प्रकरण के नायक चारूदत्त को प्रेमिका बसन्तसेना की हत्या के प्रकरण में प्रतिनायक शकार के द्वारा आरोपी बनाकर फसाया जाता है और न्यायालय में न्याय व्यवस्था को अपनी सत्ता के प्रभाव से प्रभावित करने का दुर्भावनापूर्ण प्रयास किया जाता है। बड़े ही छल-कपट तथा दाव-पेंचों के बाद शकार ने चारूदत्त के लिए मृत्यु-दण्ड की सजा भी सुनिश्चित करा दी जाती है।

''श्रृणुत श्रृणुत भट्टारका। एतेन मारिता एतेनैव संशयिच्छिन्नः।

एतस्य दरिद्रचारूदत्तस्य शरीरो दण्डो धार्यताम्।।''[5]

जब चारूदत्त को श्मशान में बनी शूली तक चाण्डालों के द्वारा वध के लिए ले जाया जाता है तो उसी समय नाटकीय रूप में बसन्तसेना की उपस्थिति हो जाती है।

बसन्तसेनाः-आर्याः। मा तावन्मा तावत्।

आर्याः। एषाहं मन्दभागिनी यस्याः कारण दोष व्यापाद्यते।[6]

तत्पश्चात बसन्तसेना के जीवित होने के कारण चारूदत्त आरोप मुक्त हो जाता है और प्रतिनायक शकार के ऊपर यह आरोप सिद्ध हो जाता है। पूरे प्रकरण में वर्णित न्यायिक प्रक्रिया का बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से वर्णन देखने को मिलता है।

दूसरी तरफ ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के बाद भी चारूदत्त के द्वारा विरोधी शकार के प्रति द्वेष भावना नहीं रह जाती है और चारूदत्त के द्वारा उसे माफ कर दिया जाता है। मृच्छकटिकम् में न्याय के अधर्म एवं धर्म आधारित दोनों ही रूपों के दर्शन शूद्रक के नवें और दशम अंक में हमें देखने को मिलते हैं।

चारूदत्त को झूठे आरोपों में फंसाकर मृत्युदण्ड देना अधर्म पर आधारित प्रक्रिया माना जबकि चारूदत्त के द्वारा सभी के प्रति यहाँ तक दुष्ट शकार के प्रति भी द्वेषता को खत्म करते हुए उदारतापूर्ण न्याय की घोषणा की जाती है। यह धर्म आधारित न्याय के दर्शन की प्रक्रिया है। मनुस्मृति में कहा भी गया है कि जब राजा को न्यायालय में विवाद के निस्तारण के लिए समय नहीं मिल सके तो इस हेतु उसके द्वारा न्यायाधीश के रूप में विद्वान ब्राह्मण की नियुक्ति की जानी चाहिए।

''यदा स्वयं न कुर्यात तु नृपतिः कार्य दर्शनम्।

तदा नियुञ्जाद् विद्वांस ब्राह्मणं कार्य दर्शने।।''[7]

मनुस्मृति में यह भी स्पष्ट कहा गया है कि यदि कोई धर्म के विरुद्ध कार्य करता है एक दिन धर्म उसे नष्ट/बर्बाद कर देता है और यदि कोई भी धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है। क्योंकि यदि कोई धर्म के पथ पर चलता हुआ कार्य करता है तो धर्म उसका ना केवल परचम लहराता है अपितु संसार सागर से मुक्ति दिलाता है। इसलिए धर्म को कदापि नष्ट नहीं होने देना चाहिए।

''धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

तस्मात् धर्मो न हन्तव्यों मानो धर्मो हतो वधीत।।''[8]

वादी-

न्यायालय में जो विवाद का विषय पहुँचाता है उसे वादी कहा जाता है। जिसके बारे में वह शिकायत करता है वह प्रतिवादी कहलाता है। इसी आधार पर शकार प्रकरण को न्यायालय में ले जाता है। अतः शकार वादी और हत्या के आरोपी होने के कारण चारूदत्त प्रतिवादी कहे जा सकते हैं। यहाँ शकार अत्यन्त जड़ प्रकृति का दुष्ट व्यक्ति है और चारूदत्त उदारता, दानशीलता के साक्षात प्रतिमूर्ति है। शकार राजा का श्यालक (साला) होने के कारण न्यायालय प्रक्रिया को अपने अनुसार चलाने के दबाब बनाता है। वह मूर्खतापूर्ण गर्वोक्ति पूर्ण ढंग से अपना परिचय देता है।

अहं वरपुरुषः मनुष्यः वासुदेवः राष्ट्रियश्यालः।

राजश्यालः कार्यार्थी।।[9]

अर्थात् मैं पुरुषों में श्रेष्ठ, मनुष्य वासुदेव राष्ट्रीय शाला राजा का शाला हूँ और न्यायालय में प्रकरण के विचारर्थ उपस्थित हूँ।

हालांकि मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा को स्वं कोई विवाद पैदा नहीं करना चाहिए और न ही राजा के लोगों को ही अपनी ओर से कोई मुकदमा उत्पन्न करना चाहिए; यदि किसी के द्वारा मुकदमा किया जाता है। तो उसमें किसी भी प्रकार का दबाव नहीं बनाना चाहिए।[10] परन्तु इसके विपरीत मृच्छकटिकम् में राजा का सम्बन्धी उसका साला शकार मुकदमें में भरपूर हस्तक्षेप करता है और निर्णय को अपनी ओर कराने की कोशिश करता है

और सम्पूर्ण न्याय प्रक्रिया को अपने अमर्यादित आचरण से न्याय को प्रभावित करने का प्रयास करता है।

जैसे- **किं न दृश्यते मम व्यवहारः? यदि न दृश्यते तदा आवुतं राजानं पालकं भगिनीपति विज्ञाप्य भगिनीं मातरञ्च विज्ञाप्य एतमाधकरणं दूरीकृत्य अत्र अन्यामधिकरणिकं स्थापयिष्यामि।**[11]

इसका प्रभाव यह है कि न्यायाधीश उसके प्रकरण पर विचार करने के लिए विवश हो जाते हैं।

दूसरी तरफ चारूदत्त मृच्छकटिकम् के नायक है। बसन्तसेना के प्रति चारूदत्त का और चारूदत्त के प्रति बसन्तसेना का अगाध एवं अटूट विश्वास और अनुराग से भरा दिखलाई पड़ता है।

चारूदत दुष्ट शकार के लिए शत्रु के समान है। बसन्तसेना के वध-प्रकरण में घटना से अनभिज्ञ चारूदत्त को शकार के द्वारा फंसाया जाता है। परन्तु बार-बार शकार के द्वारा आरोप लगाए जाने पर और न्यायाधीश तथा न्यायालय के अन्य क्रमिकों श्रेष्ठि और कायस्थ द्वारा बार-बार सत्य कहने के लिए आग्रह किए भी किं कर्तव्यविमूढ़ चारूदत्त कुछ भी नहीं कह पाता है। और बसन्तसेना की मृत्यु का विश्वास कर अत्यधिक दुःखी हो जाता है।[12]

साक्षी :- साक्षी न्यायालीय व्यवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग होता है।

न्यायिक व्यवस्था के अन्तर्गत जब तक दोष साबित न हो जाए तब तक हर व्यक्ति निर्दोष है। सबूत के लिए जिस स्तर की आवश्यकता है, वह यह कि प्रस्तुत किए गए सबूत/साक्ष्य से व्यक्ति का अपराध उचित संदेह से परे दिखना चाहिए।[13]

इस प्रकरण में साक्षी के रूप में तीन व्यक्ति दिखाई देते हैं। राजा पालक का आरक्षक वीरक शकार की गाडी तथा चालक सीवरक बसन्तसेना की माँ।

उपर्युक्त विषयन्तर्गत रभिल द्वारा सूचना पाकर जब चारूदत्त का मित्र विदूषक मैत्रेय चारूदत्त से मिलने के लिए न्यायालय में पहुंचता है और चारूदत्त के ऊपर लगाए गए आरोप को जब सुनता है तो वह क्रोध से आग-बबुला हो और शकार पर डण्डे से प्रहार करता है।

''तिष्ठ रे कुट्टिनी पुत्र! तिष्ठ! यावदेतेन तव हृदयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन मस्तकं ते शतखण्डं करोमि।''[14]

तभी विदूषक की कांख से आभूषणों की पोटली गिर जाती है। जो बसन्तसेना के द्वारा चारूदत्त के बेटे रोहसेन को मिट्टी की गाड़ी के स्थान पर सोने की गाड़ी बनवाने के लिए दिया गया होता है। जबकि उन आभूषणों को चारूदत्त के द्वारा विदूषक के हाथों बसन्तसेना तक वापस पहुँचाने के लिए दिया गया होता है। परन्तु दुर्भाग्यवश बसन्तसेना तक पहुँचाने से पहले ही न्यायालय में गिर जाते हैं। आभूषणों को देखकर शकार खुशी के मारे झूम उठता है और न्यायालय में महानुभावों देखिये, देखिये उस बेचारी के ये आभूषण हैं। कलेवा के समान इसी तुच्छ धन के लिए वह बेचारी मार दी गयी है। इस तरह न्यायालय में सबूत भी सिद्ध हो जाता है।

जबकि न्यायालय में उपस्थित बसन्तसेना की माँ हत्या का आरोप लगने के बाद भी चारूदत्त को उसका दोषी नहीं मानती है और चारूदत्त के हित की रक्षा करती है कि ये जैसे ही गहने किसी कारीगर के द्वारा और बना दिये गए हैं। ये वे गहने नहीं हैं जो बसन्तसेना के हैं।

स्थावरक जो शकार की गाड़ी का वाहक है और एकमात्र ऐसा व्यक्ति है जो 'शकार' को बसन्तसेना का गला दबाते हुए देखता है।[15]

''अये, मार्ग एव पादयो निपतितः। अनेन च पतता स्त्री व्यापादिता। भोः पाप। किमिदमकार्यमनुष्ठितं त्वया? तवापि पापिनः पतनात्स्त्री वधदर्शनेनातीव पातिता वयम्। अनिमित्तमेतत् यत्सत्यं बसन्तसेनां प्रति शङ्कितं में मनः।''

न्यायालय-

मृच्छकटिकम् में न्यायालय के स्वरूप का अत्यन्त अलंकारिक परन्तु बहुत ही सटीक वर्णन किया गया है। चारूदत्त न्यायालय को पहली बार देखता है। तो वहाँ के वातावरण और क्रिया-कलापों को एक बड़े, समुद्र से तुलना करता है।

चिन्तासक्त- निमग्न मन्त्रि सलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्त- स्थित-चार-नक्र-मकरं नागाश्व हिंसाश्रयम्।
नाना- वागक-कङ्क-गारी रुचिरं कायस्थ-सर्पास्पदं
नीति- क्षुण्ण-तटञ्च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते।।[16]

न्यायालय के कार्मिक -

न्यायालय के कार्मिक के रूप में तीन व्यक्तियों को मृच्छकटिकम् में दिखाया गया है। शोधक, श्रेष्ठि और कायस्थ।

शोधक न्यायालय की बैठक व्यवस्था को निश्चित

करने के साथ-साथ वादी, प्रतिवादी तथा साक्षी आदि को बुलाने का कार्य करता है। श्रेष्ठि और कायस्थ न्यायालय के कार्यकारी कर्मचारी के रूप में कार्य करते हैं और साथ ही वादी बारम्बार प्रेरित करते रहते हैं।

न्यायाधीश :-

न्यायाधीश विचाराधीन प्रकरण को देखने वाला न्यायालय का सर्वोच्च अधिकारी होता है। जो पक्ष तथा विपक्ष की सूचनाओं को अपनी व्युत्पन्नमति से युक्ति पूर्ण अन्तः सम्बन्ध स्थापित करता हुआ उसके आधार पर विवेकपूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचता है। मृच्छकटिकम् में न्यायाधीश के गुणों का उल्लेख किया गया है कि न्यायाधीश को न्याय-शास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए। कपट-व्यवहार की पहचान करने में कुशल होना चाहिए। न्यायाधीश को योग्य वक्ता, अक्रोधी, समभावी हो, हाव-भावों को देखकर ही उत्तर देने वाला हो, दुर्बल असहायों की रक्षा करने वाला हो, ठगों और दुराचार व्यवहार करने वालों को दण्डित करने वाला हो निर्लोभी हो, सम्भावित उपायों से सत्य का पता लगाने के लिए सावधान रहने वाला होना चाहिए। तथा न्यायाधीश का व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि जिससे ना केवल सामान्य जन अपितु राजा भी क्रोध अविलम्ब शान्त हो जाए।[17]

राजा- प्राचीन भारत में राजा प्रजा का भरण-पोषण और रक्षा करने वाला होता था। परन्तु जब कभी समाज में सत्य को पुनः अधिष्ठित करने की स्थिति आती थी और समाज में यदि सत्य की चमक धूमिल करने का प्रयास किया जाता था तो वहाँ राजा अपने तत्वान्वेषिणी दृष्टि से न्यायिक प्रक्रिया के द्वारा सत्य को पुनःस्थापित करता था और यह कार्य राजा न्यायाधीश के माध्यम से करता था। मृच्छकटिकम् में राजा पालक के द्वारा न्यायालय के न्यायाधीशों के निष्कर्ष के आधार पर दण्ड की घोषणा की जाती थी।

दण्ड-

इस प्रकरण में न्यायाधीश के द्वारा चारूदत्त को बसन्तसेना के हत्या के आरोप में दोषी करार कर सूली पर चढ़ाने के आदेश दे दिया जाता है। सूली पर चढ़ाने के लिए चारूदत्त को श्मशान में दण्डस्थल पर ले जाया जाता है। यहाँ न्याय-व्यवस्था सत्ता के प्रभाव में निर्दोष व्यक्ति को दण्डित करने से अधर्म की सत्ता प्रतीत सी होती है। किन्तु मृच्छकटिकम् के अंतिम अंक में न्याय की प्रवृति पूर्ण रूपेण धर्म आधारित परिलक्षित होती है। संवाहक और शर्विलक के सहयोग से चेतना सम्पन्न जीवित बसन्तसेना दण्डस्थल पर उपस्थित होती तो बसन्तसेना पर किये गये शकार के अत्याचार का पता चलता है। तभी सारी परिस्थितियों में परिवर्तन होता है।[18]

राजा पालक की हत्या कर अहीर पुत्र आर्यक को राजा बनाने की खबर आती है। इसके बदले हुए परिवेश में चारूदत्त के द्वारा जो न्याय का पूर्ण रूपेण धर्म पर आधारित होकर सत्य की स्थापना करने का उदाहरण प्रस्तुत किया।

शर्विलक जब शकार को मार डालने के लिए उद्यत होते हैं तब चारूदत्त उसे रोकते हुए कहते हैं कि

शत्रुः कृतापराधाः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः
शस्त्रेण न हन्तव्य....।।[19]

धर्म के मार्ग पर चलने वाले चारूदत्त शकार को अभयदान दे देते हैं। बसन्तसेना को चारूदत्त तक पहुंचाने में सहयोग करने वाले बौद्ध भिक्षु संवाहक को सभी बौद्ध बिहारों का कुलपति अधिपति बना देता है। तथा स्थावरक को चाण्डालों का अधिपति एवं आरक्षक चन्दनक को अपराधियों को दण्ड देने वाला अधिकारी बना दिया जाता है। सर्वत्र चरित्र की शुद्धता शरण में आए हुए की रक्षा तथा क्षमता के अनुरूप ही योग्य व्यक्तियों के द्वारा दायित्वों के निर्वहण से सर्वत्र सुख एवं शान्ति की स्थापना होती है तथा आत्मिक संतोष की अनुभूति करते हुए चारूदत्त के द्वारा कहा जाता है कि-

लब्धा चारित्रशुद्धिश्चरणानिपतितः शत्रुरप्येष मुक्तः
प्रोत्खातारातिमूलः प्रियसुहृदचलामार्यकः शास्ति राजा।
प्राप्ता भूयः प्रियेयं प्रियसुहरि भवान सङ्गतो मे वयस्यो
लभ्यं किञ्चातिरिक्त यदपरमधुना प्रार्थयेऽहं भवन्तम्।।[20]

अर्थात् अब कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं है सब कुछ प्राप्त हो गया है। सर्वत्र सुख शान्ति और समृद्धि है।

निष्कर्ष-

उपर्युक्त विषयान्तर्गत हम यह कह सकते हैं कि अधर्म पर धर्म की विजय होती है जो प्रकरण में अंत में दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार इस मृच्छकटिकम् में न्याय व्यवस्था को अभिवर्णित करने वाला एक महनीय प्रकरण ग्रन्थ है। जिसमें न्याय के अधर्म एवं धर्म आधारित न्याय के उभय रूप का दर्शन बड़े सुचार ढंग से होता है। जहाँ एक ओर न्याय में प्रयुक्त छल प्रपञ्च का बोलबाला तो

वहीं दूसरी ओर धर्म पर आधारित सत्य की सुन्दर उपस्थाना होती है।

संस्कृत-शोधार्थी,
महाराजा सूरजमल बृजविश्वविद्यालय,
भरतपुर (राज.)
Gmail Id. : drslmeena95@gmail.com

संदर्भ सूची

1. याज्ञवल्क्य स्मृति - 2/1
2. मनुस्मृति - 8/1
3. काव्यप्रकार - 1/2
4. मृच्छकटिकम् (डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी) - 1/7/11
5. वही, 9/632
6. वही, 10/703
7. मनुस्मृति - 8/9
8. वही, 8/15
9. मृच्छकटिकम् - 512
10. मनुस्मृति - 8
11. मृच्छकटिकम् - 513
12. वही, 1/6
13. मनुस्मृति - 8/4
14. मृच्छकटिकम् - 9/620
15. वही, 8/532
16. वही, 9/14/579
17. वही, 9/565
18. वही, 10/706
19. वही, 10/55/709
20. वही, 10/59/741

शोध-पत्र

डॉ. रंजना त्रिपाठी

डॉ. रामकुमार सिंह के निबन्धों का स्वरूप एवं समीक्षा शैली

निबंध शब्द नि + बन्ध से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है किसी विषय को निश्चित अर्थ में बाँधना। संस्कृत साहित्य में सामान्यतया टीका, वृत्ति के लिए निबंध शब्द का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं ग्रंथ के रूप में भी इसका प्रयोग हुआ है। हिन्दी में तुलसीदास ने रामचरितमानस को निबंध नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः संस्कृत की परम्परा में निबंध उसे कहा जा सकता है, जिसमें निश्चित बन्ध, संघटना हो और जिसमें नाना प्रकार के मतमतान्तरों का संग्रह हो। निबन्ध का यह रूप प्रबन्ध-काव्य में दिखायी पड़ता है, हिन्दी में निबन्ध और प्रबन्ध के प्रयोग में अन्तर है। विस्तृत आलोचनात्मक या शोधपरक निबन्ध के लिए प्रबन्ध का प्रयोग किया जाता है।

सम्प्रति निबन्ध को जिस अर्थ और रूप में साहित्य विधा माना जाता है, वह आधुनिक है और पाश्चात्य साहित्यिक प्रवृत्ति से प्रभावित है। 'आलोच्यकाल' में निबन्ध को साहित्य में 'अत्याधुनिक' तथा 'उत्कर्षकाल' कहा जाता है। इस कालखण्ड में निबन्ध के तत्त्व और स्वरूप में (विषय और विवेचन दोनों में) काफी नवीनता आयी है। उसकी इयत्ता का विस्तार हुआ है। वर्तमान में निबंध आलोचना से पूर्णतः भिन्न हो चला है। निबन्ध का आज का वर्तमान रूप पाश्चात्यों की देन है। कारण प्राचीन काल में इस देश में गद्य लिखने की प्रवृत्ति बहुत कम रही है। निबन्ध में गद्यकार की वैयक्तिक शैली निखर आती है, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने ठीक ही कहा है कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। संस्कृत में गद्य-विधान लेख और प्रबन्ध आदि शब्द निबन्ध के पर्यायवाची के रूप में आते हैं, किन्तु आज जो निबन्ध का अर्थ प्रचलित है वह इन तीनो से सर्वथा भिन्न है। आज हम अंग्रेजी एसे (Essay) के पर्यायवाची रूप में निबंध शब्द का प्रयोग करते हैं।

"निबन्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति की सर्वाधिक कठिन और सर्वाधिक आनन्ददायक विधा है, क्योंकि इसमें विशेष प्रकार का लाघव पाया जाता है। थोड़े में बहुत कुछ कहने की गुंजाइश रहती है। वस्तुतः अच्छे निबन्ध में संक्षिप्तता के साथ-साथ सम्पूर्णता भी पाई जाती है। निबन्ध अपने यथार्थ रूप में वैयक्तिक ही होता है।"[1] निबन्ध लिखते समय उसकी शैली पर विशेष ध्यान दिया जाता है क्योंकि निबन्ध में वैयक्तिक तत्व होने के कारण उसका विशेष महत्व होता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार निबन्ध की परिभाषा है-"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात व्यक्तिगत विशेषता हो। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं है कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की श्रृंखला न रखी जाए, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाए कि उनकी अनुभूति का प्रकृति या लोक सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराये जाएँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निबन्ध लेखन के अनेक प्रयोजन हो सकते हैं। लेखक की अभिव्यक्ति ज्ञान तथा अनुभवों को प्रेषित

करना, सौन्दर्य-भावना की तृप्ति मनोरंजन आदि अनेक उद्देश्यों से निबन्ध रचना होती है। विषय की दृष्टि से निबंध का क्षेत्र व्यापक है। विश्व की किसी भी वस्तु, भाव अथवा क्रिया का वर्णन निबन्ध में हो सकता है। निबंधों के मुख्यत: चार भेद माने जाते हैं।

1- वर्णनात्मक

2- कथात्मक या विवरणात्मक

3- भावात्मक

4- विचारात्मक

प्रथम दो कल्पना प्रधान तीसरा भाव प्रधान और चौथा विचार प्रधान होता है। इसके अतिरिक्त विश्लेषणात्मक या विवेचनात्मक आदि भी निबंधों के भेद हैं।

इस दृष्टि से यदि डॉ. सिंह के निबंधों को देखा जाये तो उनके निबंधों को विचारात्मक निबंध की कोटि में रखा जा सकता है। डॉ. सिंह ने राजनीतिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक तथ्यों पर विचारात्मक निबंध प्रस्तुत किये हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि निबंध वैयक्तिक होता है इस आधार पर किसी निबंध में उसके लेखक के व्यक्तित्व की झलक दिखाई पड़ती है। डॉ. सिंह के निबंधों में उनके व्यक्तित्व का अध्यापकीय स्वरूप देखने को मिलता है। 'हिन्दी और मराठी : सांस्कृतिक परम्परा में' नामक निबंध में उनके अध्यापकीय स्वरूप का एक उदाहरण देखिये-''राष्ट्रीय जीवन के विकास-पथ पर अग्रसर होने वाले छात्रों को 'हिन्दी' और मराठी के सम्बन्ध सूत्रों का अधिकाधिक चिंतन करते हुए अपने भाषाज्ञान को सुदृढ़ करते जाना चाहिए। आखिर ज्ञान, अनुभव-चिंतन और मनन का प्रतिफल होता है।''[3] डॉ. सिंह अपने विचारों को सामान्य पाठक तक पहुंचाने में विश्वास रखते हैं अत: उन्होंने निबंधों में अपने विचारों को विविध शैलियों में व्यक्त किया है।

किसी वस्तु, स्थान अथवा घटना का वर्णन करते समय डॉ. सिंह ने वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया है। इसमें वर्णन की प्रधानता देखने को मिलती है। इस शैली में उन्होंने सरल और सुबोध भाषा का प्रयोग किया है। यहाँ यात्रा वृत्तान्त पर आधारित उनके निबंध 'केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा उच्च नवीकरण की दिशा' में उनकी वर्णनात्मक शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है। ''वृन्दावन में रंगजी का विशाल मंदिर और पास ही कांच मंदिर दर्शनीय है। कहते हैं 'भक्त मीरा अपने अंतिम क्षणों में इसी मंदिर में अंतर्धान हो गई थीं। यदि गोकुल श्री वल्लभाचार्य के प्रभाव से गुजरातियों का केन्द्र है तो वृन्दावन चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से बंगालियों का केन्द्र है।''[4]

डॉ. सिंह के निबंधों की भाषा परिष्कृत, परिमार्जित और व्याकरण सम्मत है। वे निबंधों को रोचक, चमत्कारपूर्ण सशक्त और प्रभावशाली बनाने के लिए मुहावरों का प्रयोग करते हैं। अपने निबंधों में यात्रा वृतान्त का वर्णन करते हुए तथा विश्राम स्थल पर पहुँचकर विश्रामावस्था के लिए कही गयी कहावत देखिये-

किस-किस को करें याद, किस-किस को रोइए?
आराम बड़ी चीज है, मुँह ढक कर सोइए।[5]

साहित्यिक ऐतिहासिक एवं राजनीतिक विषयों पर निबंध लिखते हुए वे परिचयात्मक एवं गवेषणात्क शैली का प्रयोग करते हैं। इनके निबंधों में विचारों की प्रधानता होने के साथ-साथ शैक्षिक उपदेश एवं सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियों का चित्रांकन भी हुआ है। ये स्वतंत्र निबंध लेखक हैं। इनके निबंध विविध पत्र-पत्रिकाओं में मिलते हैं।

समीक्षा आधुनिक युग की सर्वाधिक सशक्त विधा है जिसने सृजनात्मक साहित्य के विविध रूपों की विश्लेषणात्मक सामग्री से अपने भण्डार की श्री वृद्धि की है। समीक्षा मानव-प्रकृति में निहित एक सहज वृत्ति है। जो युगीन सन्दर्भ में अनेक रूपता धारण करके अपने नैरन्तर्य को सुरक्षित रखती है। मानव चेतना सृष्टि में व्याप्त समस्त तत्वों में निहित सौन्दर्य राशि से संचालित होती है। और उसकी सहज संचयन शक्ति सौन्दर्य कणों को एकत्र करके विभिन्न कलात्मक अभिव्यक्तियों में समाविष्ट कर देती है। वैश्विक आवर्तन-प्रत्यावर्तन को अनादिकालीन सुदीर्घ परंपरा में परिभ्रमण करती हुई मानव-चेतना सृष्टि के कण-कण को आत्मसात करती रही है और स्वरूप विस्तारण की व्यापक प्रेरणा के साथ विविध रूप में प्रतिफलित हुई है। मानवीय चिंतन के चरण जीवन और जगत की श्रेष्ठतम उपलब्धियों को अपनी सम्पूर्ण गतिशीलता समर्पित करते हैं। ज्ञान विज्ञान के प्रशस्त पथ पर आत्म विकास की साधनाओं में संलग्न मनुष्य केवल स्व-हित की परिधि में आबद्ध नहीं रहा बल्कि समस्त नैसर्गिक और अर्जित शक्तियों की मूल्यवत्ता का निर्धारण समष्टिगत प्रयोजनों के परिप्रेक्ष्य में करने लगा। मूल्य बोध से अनुप्राणित

होकर ही वह समीक्षण कार्य में प्रवृत्त हुआ और उसकी विश्लेषण-बुद्धि लयबद्ध हो सकी।

साहित्य और समीक्षा दोनों का उद्‌गम-स्रोत मानव-मन है। साहित्य मानव हृदय के रसात्मक अनुभतियों का भाव प्रवण अभिव्यंजन व्यापार है और समीक्षा साहित्य में निहित संवेदनाओं की विश्लेषण प्रक्रिया है जो विविध शैलियों और लक्ष्यों की निर्धारण करती है। सृजन और समीक्षा की मूल प्रेरणा मानव-चित्त से सम्बद्ध होने के कारण दोनों में एक-दूसरे की गुणात्मकता का समावेश अल्पाधिक मात्रा में हो जाता है। सृजन और समीक्षा की प्रवृत्तियाँ प्रत्येक युग में समानान्तर गति धारण करके विकसित होती रही हैं। रचना और मीमांसा का यह स्वरूप संगठन सभी देशों के साहित्य में न्यूनाधिक मात्रा में समानान्तर गति के साथ विकसित होता हुआ चलता है जिसका अभिप्राय यह है कि कभी भाव-प्रवणता के आधिक्य का युग उसकी रचनात्मक प्रक्रियाओं में अभिवृद्धि कर देता है तो कभी विचार संकुलता का बाहुल्य उसके समालोचनात्मक स्वरूप में नवीन क्रान्ति के संचार का कारण बनता है।

सृजन और समीक्षा के मूल में क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त निहित है। साहित्यकार बाह्य जगत से संवेदनाओं को एकत्र कर कला-कृतियों का निर्माण करता है और समीक्षक उन कला-कृतियों के आधार पर मूल्यों की खोज करता है। साहित्यकार सर्जना के निमित्त विश्व के विविध उपादानों पर निर्भर होता है और अपनी प्रतिभा के प्रयास से उन समस्त उपादानों को अस्वाद्य तथा संप्रेषणीय बनता है। सहृदय पाठक साहित्यिक कृति से लेखकीय मन:स्थितियों एवं अन्त:प्रदेशों की गतियों को आत्मसात करता हुआ रसास्वादन में समर्थ होता है। इस प्रकार प्रत्येक साहित्यिक कृति पाठकीय प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है। पाठक प्रस्तुत कला-कृति में सौन्दर्य के संश्लिष्ट रूप का साक्षात्कार करता है। ''प्रत्येक समीक्षक अपने प्रथम रूप में पाठक मात्र होता है। तत्पश्चात विविध विश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टियों को धारण करके मूल्यांकन कार्य में संलग्न होता है और कृति के वैशिष्ट्य को प्रतिमानों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है। समीक्षक एक तटस्थ पाठक के रूप में साहित्यिक कृति का अध्ययन करता है और कृतिकार की सूक्ष्म संवेदनाओं का विश्लेषण करके निर्णय की अधिकारिक घोषणा करता है। उसका कार्य तत्वान्वेषण द्वारा उपलब्ध कृति का सम्यक् मूल्यांकन करना है। निर्णय की पीठिका पर आसीन समीक्षक पाठक के प्रारम्भिक स्वरूप को पार करके उस परिपक्व निर्धारण शक्ति को प्राप्त कर लेता है जो एक तटस्थ चिन्तक और सत्य की उद्‌घोषणा करने वाले निर्णायक में अनिवार्य है। अत: एक समीक्षक पाठक के रूप में 'सहृदय' होता है, समालोचक के रूप में वैज्ञानिक होता है, प्रशंसक के रूप में शुभ चिन्तक होता है। और निर्णायक के रूप में ऋषि होता है।''[6]

साहित्य सृजन की प्रक्रिया सरल-सहज न होकर जटिल होती है अत: समीक्षक को भी कलाकृति की सम्यक् पहचान के लिए सम्पूर्ण जटिल सृजन-प्रक्रिया के साथ अन्त रंग सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। प्रत्यक्ष सृजन कर्म में लगा हुआ कलाकार अंतिम निर्मित वस्तु तक पहुँचने के लिए विविध मानसिक द्वंद्वों से गुजरता है। रचना-पूर्व उसकी अनुभूति सृजन प्रक्रिया से गुजरती हुई प्राय: कृति में आकर बहुत कुछ बदल सकती है। सृजन पूर्व स्थिति सृजन-गर्भ अवस्था में आकर कुछ और ही रूप धारण कर सकती है और सृजन-गर्भ स्थिति सृजन पश्चात अवस्था में आकर पूर्णत: बदल भी सकती है। ''समीक्षक को साहित्यिक कृति सर्वांगीण विश्लेषण के लिए साहित्यकार की सम्पूर्ण मानसिकता पूर्वानुभवों, प्रभावों और प्रेरणाओं को समझना आवश्यक है। जीवन और जगत की परिवर्तनशील स्थितियों साहित्यकार के मानस को उद्दीप्त कर नयी रचनाओं के सूत्र एकत्र करती है, परिणामत: नवीन साहित्य रूपों का अविर्भाव होता रहता है। समीक्षक को भी अपनी अन्तर्दृष्टि के प्रसार द्वारा नवागत चेतना में अन्तर्निहित तत्वों को स्वीकार करना पड़ता है।''[7]

प्रत्येक चेतना सम्पन्न समाज में नयी रचना के आते ही पूर्ववर्ती परम्परा के साथ उसके सम्बन्ध, उसके परस्पर अनुपात, उसके सापेक्ष्य मूल्य तथा महत्व का अंकन फिर से आरम्भ हो जाता है। इसके फलस्वरूप पुरातन तथा नूतन में एक नया सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है।

आलोच्य साहित्य एक ओर आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि से टकराकर प्रतिक्रियात्मक ढंग से नये दृष्टिकोण स्थापित करते हुए दिखायी देता है, तो दूसरी ओर आलोच्य युगीन, प्रगति-प्रयोग, प्रवृत्ति के साहित्यिक मूल्यांकन के अनुरूप नयी समीक्षा प्रणाली विकसित करती हुई दिखाई देती है। इस दृष्टि से आलोचना साहित्य विकास में

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, शिवदान सिंह चौहान, श्री रामविलास शर्मा और अज्ञेय का प्रमुख रूप से योगदान रहा है।

वर्तमान समीक्षक डॉ. सिंह के समीक्षात्मक साहित्य पर दृष्टि डालें तो उनका एक वृहद साहित्यिक फलक हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। किसी रचना के प्रति पूर्वाग्रह अतिवादिता में न आकर डॉ. सिंह साहित्य सृष्टा की मनोभावनाओं को आत्मसात करते हुए संवेदनशीलता के साथ उसकी समीक्षा करते हैं।

वस्तुतः साहित्य-सृष्टा और साहित्य-समीक्षक के कार्यों में समता यह है कि दोनों निर्माता हैं। एक विश्व-व्याप्त घटनाओं से उद्दीप्त अन्तश्चेतना के आधार पर कला-कृति का निर्माण करता है और दूसरा प्रस्तुत कलाकृति के आधार पर सृष्टा की अन्तःचेतना का साक्षात्कार करता है और गूढ़तम तथ्यों की व्याख्या करके कलाकार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार निर्माण तथा पुनर्निर्माण का कार्य सम्पन्न होता है। डॉ. सिंह अपने समीक्षा साहित्य के द्वारा उसी पुनर्निर्माण कार्य को संपन्न कर नव सर्जन प्रस्तुत करते हैं। वे समीक्ष्य कला-कृति के माध्यम से उसकी तात्कालिक स्थितियों में प्रविष्ट हो अपनी बौद्धिक कुशाग्रता एवं सूक्ष्म-दर्शिणी अनुमान शक्ति का समन्वय करते हैं। एक जागरूक न्यायकर्ता की भाँति डॉ. सिंह अपना मानसिक एवं वैचारिक संतुलन बनाये रखकर किसी रचना के मूल्यांकन के पथ पर अग्रसर होते हैं। डॉ. सिंह की समीक्षा शैली का स्वरूप आगे द्रष्टव्य है-

व्याख्यात्मक समीक्षा-

शास्त्रीय नियमों से मुक्त होकर कृति की व्याख्या करने का प्रयास ही व्याख्यात्मक समीक्षा है। रुढ़िवादी समीक्षकों के द्वारा बनाये गये नियमों के आधार पर जो समीक्षा होती है उसमें कृति के सौन्दर्य का उद्‌घाटन नहीं हो पाता अतः कृति का वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो सकता।

''व्याख्यात्मक समीक्षा में डॉ. सिंह व्यक्तिगत रुचि-अरुचि को एक और रखकर निरपेक्ष दृष्टि से किसी कृति की व्याख्या करते हैं। इसमें वे इतिहास, तत्कालीन परिस्थितियों, प्रतिपाद्य विषय और प्रतिपाद्य शैली आदि का विश्लेषण करते हैं। एक युग के नियम दूसरे युग में खरे नहीं उतर सकते इसलिए इस प्रणाली से समीक्षा करते हुए डॉ. सिंह ने अपने मानदण्ड लचीले रखे हैं। इनके मुख व्याख्यात्मक समीक्षा साहित्य इस प्रकार हैं-'निराला का तुलसीदास', 'निराला की गीतिका', 'निराला के दीर्घ प्रगीत एवं कुकुरमुत्ता', 'कामायनी का वैदिक भाष्य', 'प्रसाद का आंसू', 'महदेवी की संघिनी', 'दिनकर का कुरुक्षेत्र' है।''[8]

अन्वेषणात्मक समीक्षा-

''डॉ. सिंह की समीक्षा शैली में अन्वेषणात्मक शैली का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस शैली में इन्होंने 'महात्मा तुलसीदास का काव्यीय मनोविज्ञान', 'संत नामदेव और उनके हिन्दी पद', 'हिन्दी रीति काव्य एक सर्वेक्षण', 'भूषण के काव्य में इतिहास', 'मराठा कुर्मी और शिवाजी' आदि समीक्षाएं प्रस्तुत की हैं।''[9]

प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा-

''प्रभावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया में समीक्षक के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की प्रमुख चेतना का प्राधान्य रहता है। समीक्षक रचनाकार की मानसिकता का विश्लेषण करता हुआ चलता है। डॉ. सिंह ने इस शैली का प्रयोग प्रमुख रूप से 'कामायनी' की भावमूलक मनोवैज्ञानिक व्याख्या में किया है। इसमें इन्होंने वादमुक्त धरातल पर वैयक्तिक अभिरुचि के अनुसार कृति की प्रशस्ति का दर्शन किया है। प्रभावात्मक समीक्षा मूलतः व्यक्तिनिष्ठ आलोचना है जिसके अन्तर्गत उन प्रभावों का आकलन रहता है जो कृति विशेष के अध्ययन से आलोचक के मन पर अंकित होते है। डॉ. सिंह किसी कृति को पढ़कर अपने अन्तर्मन में अंकित कृति सम्बन्धित प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति करते हैं।''[10]

इस प्रकार हिन्दी समीक्षा साहित्य की गतिविधि का नियमन करते हुए वह परम्पराओं से सम्बद्ध होकर भी युगानुरूप नवीनता को धारण करते हैं और स्वस्थ साहित्यिक चिन्तन द्वारा हिन्दी साहित्य के भण्डार की उत्तरोत्तर समृद्धि के लिए प्रयत्नशील है।

सहायक प्राध्यापक,
जनहित कालेज आफ लॉ
ग्रेटर नोएडा, उत्तर प्रदेश

संदर्भ सूची

1. साहित्य शास्त्र एवं हिन्दी भाषा का इतिहास, डॉ. शकुन्तला पांचाल, पृष्ठ-98
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. माधव सोनटक्के,

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

पृष्ठ–448
3. साहित्य शास्त्र एवं हिन्दी भाषा का इतिहास, डॉ. शकुन्तला पांचाल, पृष्ठ–99
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, डॉ. वैंकेट शर्मा, पृष्ठ–4
5. आधुनिक हिन्दी समीक्षा की प्रवृत्तियाँ, डॉ. विद्या चौहान, पृष्ठ–18
6. आलोचना प्रक्रिया और स्वरूप – सम्पादक डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृष्ठ–18
7. आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, डॉ. रामलाल सिंह, पृष्ठ–24
8. आधुनिक हिन्दी समीक्षा की प्रवृत्तियाँ, डॉ. विद्या चौहान, पृष्ठ–44
9. हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ–सम्पादक : रामेश्वर लाल खांडेलवाल एवं सुचेन्द्र गुप्त, पृष्ठ–48
10. वही, पृष्ठ–50

लिपि और देवनागरी लिपि : विकास और स्वरूप

डॉ. धनंजय कुमार

मानव सभ्यता के विकास में लिपि का महत्वपूर्ण स्थान है। लिपि का सामान्य अर्थ होता है 'लिखावट'। किन्तु लिखावट या लेखन को वैज्ञानिक विश्लेषण में 'लिपि' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अपने भावों, विचारों या कि अभिव्यक्ति की विभिन्न दशाओं को मिट्टी पत्थर, छाल और कागज आदि पर जब किसी विशेष चिन्ह द्वारा अंकित करते हैं तो वह पद्धति वैज्ञानिक धरातल पर 'लिपि' कहलाती है।

ध्यातव्य है कि "भाषा के विकसित हो जाने के बाद लिपि का जन्म हुआ। यह भी सच है कि जिस तरह अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए मनुष्य ने भाषा को जन्म दिया उसी तरह अपनी भाषा को सुरक्षित तथा स्थायित्व प्रदान करने के लिए मनुष्य ने ही लिपि का भी सृजन किया। लिपि को मनुष्य का एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार मानना चाहिए। लिपि के ही कारण मनुष्य जाति ने सदियों की भाषिक विरासत को जीवित रखा है। मानवीय-संस्कृति के संवर्धन में लिपि उपयोगी है।"[1]

वस्तुत: भाषा और लिपि का घनिष्ठ संबंध है। परन्तु दोनों की संरचना में एकरूपता नहीं है। भाषा को ध्वनि-प्रतीकों की व्यवस्था माना जाता है जबकि लिपि को लिखित चिन्हों या रेखाओं की संरचना। "भाषा देशकाल को सीमाओं में आबद्ध रहती है जबकि लिपि इस परिधि से मुक्त होती है। भाषा को ध्वनियों का समष्टि माना जाता है जबकि लिपि को ध्वनि-प्रतीकों का अंग। भाषा का स्वरूप ध्वनियों के माध्यम से भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने वाला होता है जबकि लिपि का स्वरूप चित्रों, रेखाओं और वर्णों के माध्यम से भावों और विचारों को अंकित करने वाला।"[2] अत: "जिस प्रकार भाषा ध्वनियों की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार लिपि वर्णों की व्यवस्था होती है। इन दोनों का ही मूल आधार ध्वनियाँ हैं। दोनों ही भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का साधन हैं। जिस प्रकार भाषा में ध्वनि और अर्थ का सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार लिपि में भी वर्ण और ध्वनि का सम्बन्ध यादृच्छिक ही होता है। जिस प्रकार भाषा की ध्वनि-व्यवस्था परम्परागत होती है उसी प्रकार लिपि की वर्ण-व्यवस्था भी परम्परागत होती है। दोनों से ही होने वाली भावाभिव्यक्ति अपूर्ण होती है। मानव के संवेदनात्मक भावों को दोनों ही पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं कर पाते। दोनों देश-काल आदि-भेद से भिन्न हैं। भिन्न-भिन्न देशों और कालों में भिन्न-भिन्न भाषाओं और लिपियों का प्रयोग होता है। दोनों का ही ज्ञान औपचारिक अथवा अनौपचारिक शिक्षण से प्राप्त होता है। दोनों ही सांस्कृतिक उन्नति के प्रतीक हैं। जो समाज सांस्कृतिक दृष्टि से जितना उन्नत होगा, उसकी भाषा और लिपि भी उतनी ही उन्नत होगी। मानव के विकास में दोनों ही अपेक्षित हैं और दोनों की ही पर्याप्त महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।"[3]

अत: लिपि के संबंध में जो प्राचीनतम अवशेष मिले हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि 4000 ई. पू. तक लेखन-कला की किसी भी व्यवस्थित प्रणाली का कोई चिन्ह उपलब्ध नहीं है। हाँ प्राचीनतम अव्यवस्थित प्रयास 10000 ई. पू. से कुछ और पूर्व किये गये थे। इस प्रकार इन दोनों के बीच अर्थात् 10000 ई. पू. से 40000

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

ई. पू. के मध्य तक लगभग 6000 वर्षों में लिपि का धीरे-धीरे विकास होता रहा। लिपि की इस विकासात्मक श्रृंखला में प्रमुखतः निम्नलिखित लिपियाँ उपलब्ध होती हैं:–

1. चित्र लिपि
2. प्रतीक लिपि
3. सूत्रलिपि
4. विचार या संकेत लिपि
5. ध्वनि लिपि।

अत: ''विश्वभर में प्राचीन समय से अब तक अनेक तरह की लिपियों के प्रयोग मिलते हैं। जैसे-क्यूनी फार्म लिपि, होरोग्लाइफिक लिपि, चीनी लिपि, अरबी लिपि एवं यूनानी लिपि, रोमन लिपि। ध्यातव्य है कि भारत में 500 ई.पू. से लिपियों के दर्शन होने लगे थे। भारत में भी अनेक लिपियों का प्रचलन रहा है। जैनियों के 'पन्नवणसूत्र' में 18 तथा बौद्ध-ग्रन्थ 'ललित विस्तार' में 64 लिपियों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु शिलालेखों, सिक्कों एवं अन्य साक्ष्यों के आधार पर प्राचीन भारत में प्रमुखतः तीन लिपियों के प्रचलन के साक्ष्य मिलते हैं।''[4]

1. सिन्धु घाटी की लिपि
2. खरोष्ठी लिपि
3. ब्राह्मी लिपि

वस्तुतः सिन्धु नदी की खुदाइयों में भारत के प्राचीनतम अवशेष मिले किन्तु यह अति-प्राचीन नमूने होने के कारण इन्हें व्यवस्थित तौर पर नहीं पढ़ा जा सका है। अत: खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम लेख शहबाजगढ़ी और मनशेरा में मिले हैं। इसकी प्राप्त सामग्री चौथी सदी ई. पू. की है। इस लिपि का प्रचलित नाम खरोष्ठी हैं। खरोष्ठी को नामकरण के संदर्भ में बात करें तो यह संस्कृत के 'काशगर' से 'खरोष्ठ' शब्द बना है। 'काशगर' प्राचीन काल में मध्य एशिया का एक प्रान्त था । ''डॉ. राजबली पाण्डेय ने इसके अक्षरों को गदहे के होठ के रूप में देखकर 'खरोष्ठी' नामकरण का औचित्य माना है। इसे ही ईरानी में 'खरपोश्त' कहा गया है।''[5] अर्थात् खरोष्ठी लिपि उर्दू भाषा की तरह पहले दायें से बायें लिखी जाती थी किन्तु बाद में ब्राह्मी के प्रभाव के कारण बायें से दायें लिखी जाने लगी। इसमें कुल 37 अक्षर थे तथा इसमें संयुक्त व्यंजनों का अभाव है। अत: प्राचीन भारत की सर्वश्रेष्ठ लिपि ब्राह्मी ही रही हैं। ''इस लिपि के साक्ष्य बस्ती जिला (उ.प्र.) में प्राप्त 'पिपरावा' के स्पूत में तथा अजमेर जिले के 'बडली' या 'बर्ली' गाँव के शिलालेख में मिले हैं। श्री. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने इसका समय ई. पू. 500 से 350 ई. तक माना है। ओझा जी ने बाह्मी का संबंध 'अमराइक' से जोड़ा है। डॉ. मैक्समूलर ने ब्राह्मी लिपि का विकास यूनानी लिपि से माना है। कनिंघम आदि विद्वानों का मानना है कि यह लिपि प्राचीन भारत की चित्रलिपि से विकसित हुई है।''[6]

अत: जहाँ ब्राह्मी लिपि बायें की ओर लिखी जाती है तो वहीं इसकी लिखावट उच्चारण के अनुसार होती है। इसमें संयुक्त व्यंजनों का अभाव नहीं है। इस लिपि में अनुस्वार, अनुनासिक एवं विसर्ग के लिए अलग-अलग चिन्ह है। अत: ब्राह्मी का प्राचीनतम रूप चौथी सदी ई. पू. का है। इसकी दो शैलियां विकसित हुईं पहला-उत्तरी शैली दूसरा-दक्षिणी शैली। उत्तरी शैली द्वारा विकसित लिपियां हैं-गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, नागरी लिपि, शारदा लिपि एवं बंगला लिपि। दक्षिणी शैली से जिन लिपियों का विकास हुआ वे हैं-पश्चिमी-लिपि, मध्यवर्ती लिपि, तेलुगु, कन्नड़, ग्रन्थ, तमिल, कलिंग।

अत: 'देवनागरी' को 'नागरी' भी कहते हैं। 'नागरी' शब्द प्राचीन प्रयोग है। तो 'देवनागरी' शब्द बाद का। अपितु नगरों में प्रचलित होने के कारण इस लिपि को 'नागरी' कहा गया। 'नागरी' में 'देव' शब्द जुड़कर देवनागरी हो गया। देवनगरी (काशी) में प्रचलित होने के कारण प्राचीन 'नागरी' को 'देवनागरी' संज्ञक रूप मिला। विद्वानों का एक वर्ग गुजरात के नागर ब्राहणों से 'नागरी' का रिश्ता जोड़ता है। परन्तु यह कथन बहुत तर्क-संगत नहीं लगता। अत: भारत में लेखन कला का विकास प्राचीन काल से माना जाता है। अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषताओं के कारण विश्वलिपियों में नागरी लिपि की एक अलग ही पहचान है। देवनागरी एक वैज्ञानिक लिपि है। इसकी मुख्य विशेषताओं की बात की जाएं तो यह एक अर्द्ध अक्षरात्मक लिपि है। देवनागरी के ध्वनि-प्रतीकों के क्रम वैज्ञानिक है। इसके सप्तवर्गीय व्यंजन इस बात के प्रमाण है, जैसे-कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य, अन्तस्थ एवं ऊष्म। उच्चारण स्थान एवं उच्चारण प्रयत्न की दृष्टि से देवनागरी की प्रत्येक ध्वनि का सार्थक विश्लेषण पूर्णतया

सम्भव है।

ध्यातव्य है कि इसमें उच्चरित ध्वनियाँ अंकित होती हैं, न कि अनुच्चरित। नागरी लिपि सीखने में सरल है। इसकी लिखावट कलात्मक है। इसमें एक ध्वनि के लिए एक ही लिपि चिन्ह है न कि रोमन की तरह छोटे-बड़े दो रूप अलग-अलग। मुद्रण एवं टंकण की दृष्टि से देवनागरी की उपयोगिता आज भी प्रासंगिक है। ध्वनि-ग्रामिक दृष्टि से देवनागरी पूर्ण वैज्ञानिक लिपि है। अतः वैज्ञानिक लिपि होते हुए भी वर्तमान आवश्यकता की दृष्टि से देवनागरी में कुछेक त्रुटियाँ (दोष) मौजूद हैं। अर्द्ध अक्षरात्मक लिपि होने के कारण देवनागरी की ध्वनियाँ स्पष्टतः विश्लेषित नहीं हो पातीं। तथा कंठ्य, तालव्य, ओष्ठ्य जैसे विभाजन देवनागरी के अधिगम में व्याघात उत्पन्न करते हैं। देवनागरी की लिखावट जटिल है। रेफ का विधान नागरी लिपि में दोषपूर्ण है। अतः देवनागरी का वर्तमान स्वरूप की बात करें तो इसमें कुल 48 चिन्ह हैं। इनके विभाजन 'स्वर' तथा 'व्यंजन' के रूप में किये गये हैं। पुनः उन्हें मूल स्वरों, संयुक्त स्वरों तथा मूल व्यंजनों एवं संयुक्त व्यंजनों में उपविभाजित किया गया है। देवनागरी के वर्तमान व्यंजनों (संयुक्त व्यंजनों-क्ष,त्र, ज्ञ को-छोड़कर) को सात वर्गों में रखा गया है-कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य, अन्तस्थ एवं ऊष्म। नागरी को भारतीय संविधान में राष्ट्रीय अस्तित्व मिला है।

निष्कर्ष : भाषा और लिपि दोनों ही अर्जित ज्ञान के प्रतीक हैं। दोनों को सीखनाः पड़ता है। परन्तु ध्यान देने वाली बात है कि भाषा का ज्ञान बिना प्रयत्न के भी हो जाता है जबकि लिपि का ज्ञान इच्छापूर्वक प्रयत्न के बाद होता है। अपितु भाषा की रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं होती है जबकि लिपि की रचना में वैयक्तिक भूमिका महत्वपूर्ण होती है। सामान्यतः भाषा लिपि की अनुवर्ती नहीं है। लिपि भाषा को अभिव्यक्ति प्रदान करती है जबकि भाषा लिपि को आकृति देती है। भाषा को वर्तमान बनाना लिपि का काम है जबकि लिपि को इतिहास बनाना भाषा का काम है। आज का युग यांत्रिक है। मनुष्य भी 'यन्त्र-मानव' कहा जाने लगा है। मनुष्य की बुद्धि ने नई तकनीक विकसित कर यन्त्रों के माध्यम से सब कुछ आसान कर लिया है। लेखन यन्त्रों की दिशा में पर्याप्त विकास हो चुका है। जैसे-प्रिन्टिंग मशीन (मुद्रण यन्त्र) अपितु नागरी के मुद्रण-हेतु आधुनिक तकनीक-युक्त प्रचलित प्रमुख मुद्रण-यन्त्र हैं-मोनो प्रिंटिंग, आफसेट प्रिंटिंग एवं आटोमेटिक प्रिंटिंग। टाइपराइटर (टंकण-यंत्र) टंकण के माध्यम से देवनागरी ने पर्याप्त विकास किया है। वर्तमान समय में कम्प्यूटर ने आज पर्याप्त विकास कर लिया है। देवनागरी के लिए द्विभाषी कम्प्यूटर से कार्य किया जा रहा है। द्विभाषी कम्प्यूटर की विशेषता होती है कि उससे रोमन एवं नागरी दोनों लिपियाँ छपती हैं। आज बिजली एवं पानी के बिल, बीमा-रसीद तथा ट्रेन के टिकट आदि कम्प्यूटर प्रणाली से तैयार किये जा रहे हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भाषा ध्वनियों की व्यवस्था होती है और लिपि वर्णों की। जिस प्रकार भाषा में ध्वनि-समूह और अर्थ का संबंध प्रतीकात्मक एवं यादृच्छिक होता है, उसी प्रकार वर्ण और ध्वनि का संबंध भी यादृच्छिक और प्रतीकात्मक होता है। भाषागत ध्वनि व्यवस्था भी परम्परागत होती है और लिपिगत वर्ण-व्यवस्था भी। भाषा और लिपि का मूल आधार ध्वनियाँ हैं। दोनों ही भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का साधन हैं।

एसोसिएट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
डॉ. भीमराव अंबेडकर कॉलेज, दिल्ली
दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल : dkumar.brac18@gmail.com

संदर्भ सूची

1. डॉ. रामदरश राय, ''भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा'', पृ. 210
2. वही, पृ. 211
3. डॉ. मुकेश अग्रवाल, ''हिंदी भाषा और लिपि का इतिहास'' पृ. 188
4. डॉ. रामदरश राय, ''भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा'', पृ. 214
5. वही, पृ. 215
6. वही, पृ. 216

सहायक ग्रंथ सूची

1. डॉ. रामदरश राय, ''भाषा विज्ञान और हिंदी-भाषा'',

भवदीय प्रकाशन, अयोध्या, फैजाबाद-2002
2. मुकेश अग्रवाल, ''सामान्य भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा'', के.एल. पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद-2002
3. मुकेश अग्रवाल, ''भाषा साहित्य और संस्कृति'', के. एल. पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद-2006
4. गोपाल राय, ''हिंदी भाषा का विकास'', अनुपम प्रकाशन, पटना-2000
5. संतोष गोयल, ''कंप्यूटर: एक सरल अध्ययन'' नटराज प्रकाशन, दिल्ली-2005
6. अनंत चौधरी, ''नागरी लिपि और हिंदी वर्तनी'', बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना-1973
7. भोलानाथ तिवारी, ''हिंदी भाषा'', किताब महल, इलाहाबाद-1995
8. डॉ. मुकेश अग्रवाल, ''हिंदी भाषा और लिपि का इतिहास'', के. एल. पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद-2016
9. कैलाशचंद्र भाटिया, ''हिंदी: विकास और संभावनाएँ'', प्रकाशन विभाग, दिल्ली-1996